बीबी के लेक्चर

[व्यंग्य-चित्र-संग्रह]

लेखक
तिलक 'खानाबदोश'

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ

प्रथम बार] १९५४ [मूल्य २।।)

प्रकाशक
श्री दुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान

1. भारती (भाषा)-भवन, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
3. इंडियन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
4. सुधा-प्रकाशन भारत-आश्रम, राजाबाज़ार, लखनऊ

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
पं० ज्वालाप्रसाद चतुर्वेद
भारत प्रेस
सदर बाज़ार, लखनऊ

निवेदन

'बीबी के लेक्चर' हिंदी-साहित्य में अपने ढंग की निराली चीज़ है। इसमें 'ख़ानाबदोश जी' के इधर लिखे गए ग्यारह व्यंग्य-चित्र संगृहीत हैं। इनमें से कई हिंदी-उर्दू की कतिपय प्रख्यात पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत व्यंग्य-चित्रों में लेखक ने राजनीति से रोमांस तक जन-जीवन के अनेक पहलू चित्रित किए हैं। ये ख़ाके जहाँ आज की सामाजिक विषमताओं, आर्थिक संघर्षों और राजनीतिक उखाड़-पछाड़ के परिचायक हैं, वहीं वर्तमान (Status quo) के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा भी देते हैं।

संघी-सभाई-सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट-कांग्रेसी, छात्र-छात्रा, कवि-लेखक, मियाँ - बीबी, हाकिम - हुक्काम, बदलू काका या कल्लन मियाँ किसी को भी लेखक ने बख़्शा नहीं है।

प्रस्तुत सृजन में उसने स्वयं को साहित्य अथवा राजनीति के किसी वाद में नहीं बाँधा। लेखक की यह उन्मुक्त प्रवृत्ति चित्रों की शिल्प-शैली में भी पग-पग पर दिखाई देती है।

यों भाषा का एक अजीबोग़रीब रूप होते हुए भी इन व्यंग्य-चित्रों में प्रयुक्त हिंदी की शालीनता, उर्दू की रवानगी, लखनवी ज़ुबान की नफ़ासत और कतिपय अँगरेज़ी शब्दों का चलन उनकी अपनी विशिष्टता है। चित्रों में पग-पग पर चुभते हुए शब्द, फड़कते हुए जुमले और मचलते हुए मुहावरे सीधे हृदय पर चोट करते हैं।

लेखक ने स्वस्थ हास्य की सृष्टि के साथ-साथ व्यंग्य के माध्यम से आज की कितनी ही बुनियादी समस्याओं को उठाया है। कहाँ तक वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ है, यह निर्णय हम अपने विज्ञ पाठकों और आलोचकों पर छोड़ते हैं।

आशा है, लेखक की अन्य रचनाओं की भाँति हिंदी - जगत् इसे भी अपनाएगा।

कवि-कुटीर लखनऊ
६-७-५४

दुलारेलाल

ब हु म ति को

कहाँ क्या है ?

बीबी के लेक्चर

न-जाने कब से ज़माने का यह पुराना-धुराना-सा निज़ाम चला आ रहा है, और न-जाने कब तक चलता रहेगा। भोर के बाद ख़ामोश दोपहरी होती है। हर सुनहरी साँझ अँधेरे में डूब जाती है। बचपन के बाद जवानी और अक्कलदाढ़ के साथ-साथ गधा-पच्चीसी की तीखी समझ-बूझ आती है। यों चीज़ें बदलती रहती हैं, मगर सुनती हूँ, जिस दिन से दुनिया बनी है, तब से अब तक पानी के बहाव और मुहब्बत के तरीक़ों में कोई तब्दीली नहीं हुई। आदम और हौवा की परंपरा निभती चली जा रही है, किसी-न-किसी तरह खुले-छिपे।

[एक]

बीवी के लेक्चर

कोई माने या न माने, दुनिया के लोग भी बदले हैं। गिरहकट, आवारा और जेबतराश-क़िस्म के शोहदे शरीफ़ज़ादों की तरह सफ़ेदपोश रहने लगे हैं। इनके सज़ायाफ़्ता भाई-बंद मिनिस्टर तक बनने लगे हैं। चमेली से चंदरपरकाश और इंजेक्शन से कल्लू, मुन्ना और बेबी साहिबान की फ़सलें उगाई जा रही हैं। मैं खुद भी अच्छी-खासी कुमारी से चौपाया दुलहन बन गई। मगर हमारे यह, क्या कहूँ ? नाम तो ले नहीं सकती; लल्ली के पिताजी, आज भी वैसे ही निखट्टू हैं, जैसे हमेशा से थे।

नाक-नक़्शे, चाल-ढाल में इनके कोई खास तब्दीली नहीं हुई। वही पुरानी बिना कमानी की ऐनक, ऐनक से कान तक लिपटी हुई वही पुरानी धोती की हरी किनारी, जेल की दीवार से भी ज़्यादा मोटे चश्मे के शीशे आज भी सलामत हैं। कान पर पेंसिल या बीड़ी का टुर्रा रखकर तो पूरे मुंशीजी लगते हैं। मुए पटवारी, कारिंदे फिर भी आदमी तो मालूम होते हैं, और एक यह हैं, शकल-सूरत, वेश-भूषा दोनों तरफ़ से फटीचर। और, उस पर नाम रख छोड़ा है खानाबदोश। इनके साथ कहीं आते-जाते भी तो लिहाज़ लगता है।

आपने भी क्या दिलकश चौखटा पाया है। दीमक-लगी किताब-जैसा मुखारविंद। ऐनक के बोझ से दबी पसेरी-भर की चपटी नाक; नींद से उनींदे, अलसाते, मदमाते, तिरीछे नैन; बेआब चेहरा, जिस पर मैल की सूत-भर मोटी तह। रूखे-रूखे, उलझे-से बाल, पिचके हुए गाल और उन पर खिचड़ी-जैसी दाढ़ी। देखने-वाले नाक-भौं न सिकोड़ें, तो करें क्या ? दिवाली से होली तक न नहाने की जैसे क़सम-सी खा चुके हैं। लाख चीखूँ-चिल्लाऊँ, इन

पर कोई असर ही नहीं ! देखिए न, हर कोई अपनी-अपनी औक़ात के माफ़िक़ बन-ठनकर रहता है। गोया कि सभी ने मालिक की फूहड़ कसीदाकारी पर एक-न-एक पैबंद लगा लिया है, और एक यह हैं चिकने घड़े। व्यंग्य कीजिए, हँसकर टाल देंगे। क़सूर इनका नहीं। दिमाग़ ख़राब करने को इनके मुँहजले दोस्त क्या कम हैं। कहते हैं, शायर और अदीबों को सब कुछ ज़ेबा देता है; मैं पूछती हूँ, एक वह भी तो अदीब हैं, जो बिना एक लफ़्ज़ लिखे बने फिरते हैं छायावादी।

यही हाल है इनके मूड का। अजीब तबियत पाई है इन्होंने भी। आधी बात कह दूँ, तो सारा मूड हिरन हो जाय, मिज़ाज आसमान से बातें करने लगे। सोकर उठेंगे, तो ऐसे, जैसे रात-भर खटमलों से कुश्तमकुश्ता हुई है; घर से निकलेंगे, तो इस अंदाज़ से, जैसे झाड़ू-बेलन अभी बरस चुके हैं। न इनसे तिल-भर काम का सहारा, न राई-भर काज का सहारा। गोया, मैं इनकी लौंडी-बाँदी हो गई; दिन-रात हुज़ूर की फ़रमाइशें पूरी किए जाओ। वक़्त से इन्हें खिलाओ-पिलाओ। बैठे-ठाले जनाब के निठल्ले यार-दोस्त आ जायँ, तो उनका हुकुम अलग से बजाओ। मैं तो इसी की हो ली।

कभी भूल से भी कह दिया, अजी देखो, बाज़ार जा रहे हो, तो ज़रा बच्चों को भी ले जाओ। बेचारों की तबियत बहल जायगी, तो समझिए, ख़ैर नहीं। जैसे औलाद से इनका कोई वास्ता ही नहीं। जब लौटेंगे, तब ख़ाली हाथ। ऐसा भी सूमपना क्या। टोक दूँ, तो त्योरियाँ चढ़ जायँ। मुँह फुला लेंगे, जैसे ज़माने-भर की कड़ुवाहट इन्हीं के मुँह में भर गई हो।

दोस्तों के बीच सूझती है मठबल्लोबाज़ी। मजाल है, घड़ी-

भर को भी काम की बात करें। पोथे लेकर बैठ जायँ, तो सुबह से शाम, शाम से तड़का हो जाय। रोटी-पानी भूल जाय। भली सौत से पाला पड़ा है। कविता-कामिनी न हुई, जानलेवा हो गई। और, मेरी क़दर तो अभागिन रखेलियों-जितनी भी नहीं रही। जी में तो आता है, इनके सारे दीवान और कलाम जलाकर ही दम लूँ। न-जाने क्या सोचकर रह जाती हूँ मैं भी।

सच पूछिए, तो इनके जोड़ का आदमी मिलना मुश्किल है। महाशयजी को न रोटी की चिंता, न रोज़गार की फ़िकर। न बीबी का खयाल, न बच्चों का खटका। और तो और, इन्हें अपना भी होश नहीं। अजीब शाहाना तबियत पाई है। कहेंगे कुछ, करेंगे कुछ और। जागते में सपने देखेंगे, और सोते में कविता-पाठ। आखिर अहमकपन की भी हद होती है। यह उमर हो गई, भला, ज़िम्मेवारी किस चिड़िया का नाम है! और देख लूँ, कितने दिन नक्कू बने रहेंगे?

पढ़ी-लिखी मेहरिया होती, तो नकेल डाल देती। भूल जाते सारा सैर-सपाटा, सारी साहित-सेवा। सेवा कहीं यों होती है। अपना घर सँभाले नहीं सँभलता, चले हैं शायरी करने! दुनिया मखौल उड़ाए, पर इन्हें क्या? और, वैसे ही सिर-फिरे इनके दोस्त हैं। बैठ जायँगे मुँहजले, जैसे अफ़ीम का अंटा चढ़ाकर बैठे हों। शक्ल लिए फिरते हैं लंगूर, बनमानुषों-जैसी, बातें करेंगे परियों की, भेद निकालेंगे नायिकाओं में। नख-सिख बरनन की भी हद हो गई।

खुदा जाने, इन कमबख्तों के भी बीबियाँ हैं या नहीं। होंगी, तो वे भी करम को रोती होंगी। घुना करती होंगी खोपड़ियाँ।

हर वक़्त शायरी, नित नई तुकबंदियाँ। अरे, कुछ तुक भी हो। यही शौक़ था, तो फेरों के चक्कर में क्यों पड़े? कहती हूँ, पहले उन्हीं को निभा लो, तब रचा लेना ये नित नए स्वयंवर। क्या करूँ इनके पागलपन को, कुछ भी तो नहीं समझ में आता।

लाख बार समझाया; भाई, कुछ काम-धंधा करो। छोड़ो इस बकवास को। आख़िर क्या धरा है, यों काग़ज़ ख़राब करने में। और, यह हैं आँख के अंधे, अक़्ल के कोल्हू, जिनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। रोटी-रोज़गार के जैसे सब मसले हल हो गए। बन्ना है, तो बस यही। ख़ुद मजनूँ बने फिरते हैं, बच्चों को ख़राब करते हैं। चाहे जितना भेजा खरोंचो, इनकी समझ में ख़ाक नहीं आता। विरह के आँसू और जुदाई का ग़म न हुआ, कमबख़्त मिट्टी-मिला राशन हो गया। चाहते हैं, बीवियाँ भी यही फाँक लिया करें।

गिरस्ती का शौक़ रखते हैं, तो ज़रा ओखली में सिर भी तो डालें। ऐसे निकम्मेपन से भला, कब तक निभेगी? भूषण ने शायरी की, तो कुछ कमाया तो। पर यह ठहरे ऐसे फ़िरदौसी, जिन्हें न जीते-जी कुछ मिलेगा, और.........अब क्या कहूँ। और भी तो कितने हैं। कोई किसी राजपाल के पीछे लगा है, कोई किसी मंत्री के पीछे। किसी ने रेडियो में साँठ-गाँठ लगा रक्खी है, तो कोई सरकारी सूचना-महकमे में ही घुसा पड़ा है। किसी ने कोई संस्था खोल रक्खी है, तो कोई और ही सिप्पा भिड़ाए हुए है। पर मेरी तो लाख रुपए की बात भी इन्हें निरी बकवास लगती है। टाल दें, कभी तो खुलेगी छिपे-माथे की।

मैं तो कहती हूँ, आज तिकड़मबाज़ों का ही ज़माना है। प्लेटफ़ार्मों से चार-छः तुकबंदियाँ पढ़ दीं, और समझने लगे अपने

को कालीदास। बालों का कट भी शायराना, वैसी ही बेहूदा पोशाक, और तैसी ही नामाक़ूल सोहबत। जहाँ तक मैं जानती हूँ, अब तक महज़ औरतें ही गीत गाती थीं, अब यह शौक़ सवार हुआ है इन कमबख्तों पर। अरे, लेक्चर देना ही सीख लें, तो कहीं के इनिस्टर-मिनिस्टर हो जायँ। खुद भी चैन से गुज़ारें, खानदान की औक़ात भी निखर जाय। मगर यह ठहरे कविजी। एक वह भी तो कवि हैं, जो पैसे के लिये सब कुछ लिख डालते हैं। पर यह हैं, जिन्हें लँगोटी में फाग खेलते मज़ा आता है।

नौकरी करते नाक कटती है। रोज़गार छोटा-मोटा कर नहीं सकते। करेंगे, तो बस साहित-सेवा। भला, कोई ढंग का काम भी हो। दुनिया की माथापच्ची करो, काग़ज़ खराब करो, वक़्त बरबाद करो। और पैसों के नाम पर""बस न पूछो। संचालक, संपादक, प्रकाशक, सब-के-सब दिवालिया बने बैठे हैं। तारीफ़ करनेवाले हज़ार हैं, बात पूछनेवाला एक नहीं। पहले आज़ादी के तराने गाते थे। चलो भई, ठीक था। पर यह आज़ादी कैसी, जिसमें राय-साहब, रायबहादुर, अमनसभाई, चोर-बाज़ारिए और रँगे सियार गुलछर्रे उड़ाएँ, और मेहनतकश लेखक और शायर जूतियाँ चट-खाते फिरें? खुद तो डूबें ही, बच्चों का बेड़ा पहले ग़रक़ कर दें।

सुनती हूँ, दो-दो कौड़ी के आदमी ऐमल्ले, ऐमल्सी बनाए जा रहे हैं। कोशिश करें, तो क्या नहीं हो सकते। बाबू टनटन-गोपाल को ही देख लो; दुनिया की सारी विलायतें घूम आए; लड़का हो गया आला अफ़सर। हर तीसरे रोज़ अखबार में नाम छपता है; नाम ही क्यों, मिलने-जुलने तक के फ़ोटो शाया होते हैं। सड़क-चलते लोग सलाम झुकाते हैं।

और किसकी कहूँ, दीवान-दरोग़ा तक उनका रुआब मानते हैं। वही क्या, लाला करोड़ीमल ने भी तो हवेली खड़ी कर ली। दरवाज़े पर मोटर और घर में सोने से लदी सेठानी! पर इन सब बातों के लिये भी तो भेजे में अक़ल चाहिए। एक यह हैं, बिना शकर की चाय पी लेंगे, पर परमिट के लिये बीस क़दम भी न जायँगे। न जायँ, मेरी बला से। आख़िर मैं ही क्यों रोज़-रोज़ जी दुखाऊँ?

जानती हूँ, इन भोंदुओं को ताज़ीरत अक़ल न आएगी। ख़याली पुलाव पकाए जायँगे। न हक़ीक़त देखेंगे, न लिखेंगे। पूछती हूँ, आख़िर इस बेवक़ूफ़ी में रक्खा क्या है? जवाब मिलता है 'नाम'। भला पूछे कोई, नाम की ही परवा करते, तो क्यों बे-सिर-पैर के तख़ल्लुस रखते। हाय री तबियत, तख़ल्लुस रक्खेंगे 'लंठ', 'शंठ', 'पाषाण', 'आवारा', 'फटीचर', 'ख़ानाबदोश' और न-जाने ऐसे ही क्या-क्या! मरे-से-मरा पंडित भी तो इनसे अच्छा नाम रख दे। जब नाम ही घसीटे, खचेर और बदलू नसल के हैं, तो फिर इनका भी ईश्वर ही मालिक है।

इन्हें देखकर न-जाने क्यों मेरी आँतें कुढ़ जाती हैं। शरीर हो रहा काँटा। चींटे-जैसी टाँगें, फीते की-सी कमर, जवानी आने से पहले ही बुढ़ापे के कुल आसार मौजूद हैं। हड्डियों के ढाँचे पर खाल-ही-खाल रह गई है। पर अकड़ के मारे निकले पड़ते हैं। रस्सी जल जाय, पर बल न निकले, यही हाल है इनका। वरना ज़रा-सी लल्लो-चप्पो में क्या बिगड़ता है।

गड्ढे में धँसती आँखों और पिचके हुए गालों को देखकर ही कुछ कह-सुन देती हूँ। पर हाकिम-हुक्कामों से मिलना तो इन्होंने

सीखा ही नहीं। नेता लोगों की नुक्ताचीनी करेंगे। सेठ-साहूकारों को चोर-उचक्का बताएँगे। दोस्ती करेंगे, तो उनसे, जो सुबह खा लें, तो शाम का ठिकाना नहीं।

फ़ाक़ामस्ती भी आपकी हद दर्जे को पहुँची हुई है। जनाब का कमरा है, जिसमें बरसों झाड़ू नहीं लगती। फ़र्नीचर के नाम पर टूटी चरपैया है। कोई रोज़ टोके, बिस्तर आक़बत तक न बदला जायगा। तेल से चीकट तकिया और चिथो-पड़ा लिहाफ़ देखकर जी मिचलाने लगे। काग़ज़-पत्तर का अंबार देखकर लगता है, जैसे किसी मुहाफ़िज़-खाने में भूचाल आ गया हो। दीवारों पर पान की पीकें, फ़र्श पर बीड़ी के टुर्रे और हवा में बीड़ी का धुआँ ही जैसे आपके दरे-दौलत की श्री समृद्धी है। बीबी भी बेचारी क्या करे ? हुज़ूर का यह नक्ख़ासी कमरा देख-देखकर तक़दीर कोसती है। कमरे के सामान को हाथ लगा नहीं सकती, सख़्त हिदायतें जो जारी हो चुकी हैं।

यों कविता न हुई, अफ़ीम हो गई। मुँहजली ने जिस महूरत से इनका दामन पकड़ा है, ग़रीबी की तरह अनाल हो गई है। इन्हें भी ऐसा चस्का पड़ा है, जिसकी इंतिहा। पीनक में बैठा अफ़ीमची कम-से-कम दूसरे से तो कहता है—"भैया, ज़रा मक्खी उड़ा देना।" इनसे तो इतना भी नहीं होता। हाथ-पाँव हिलाते जूड़ी आती है। हाँ, शायरी के मामले में अलबत्ता ज़मीन-आसमान के क़ुलाबे एक करने का हौसला रखते हैं। कभी-कभी तो ऐसी दूर की कहेंगे कि ख़ाक पल्ले न पड़ पाए। पर सोचते इतना नहीं कि आख़िर इस खोखली लफ़्फ़ाज़ी से किस-किसका भला हो जायगा।

ऐसे नालायक़ पति को पाकर बीबी ने ज़रा टोक दिया। लोगों की निगाह में [illegible] हैं लापरवाह, जो [illegible] बगैर के [illegible]

सुनते-सुनते भी मुँह पर गुस्सा नहीं लाते। इस सहनशीलता के क्या कहने! भूख से बिलबिलाते बच्चे और ठंड से सिकुड़ती बीबी को देखकर भी शायरी और साहित्य-सेवा का जनाज़ा उठाए चले जा रहे हैं। इन लीलामय की महिमा सचमुच ही अपरंपार है।

कैसी है इनकी अलमस्ती, जिसका हर लम्हा फ़ाक़ामस्ती के दौर से गुज़र रहा है! कैसा है इनका स्वाभिमान! भूख से दम तोड़ देंगे, मगर मजाल है, कफ़न के लिये किसी के आगे हाथ फैलाएँ। क्योंकि ये हैं समस्त सत्ता-संपन्न, मंगलकारी गणतंत्र के अदीब—गुस्सैवर बीबी की दृष्टि में, जो सौ फ़ीसदी निखट्टू हैं।

राजनीतिक रोमांस

यह राम-राज्य है—कलयुगी राम-राज्य—चार की तरह चक्करदार, दो की तरह मुँह फैलाए और शून्य के समान बड़पेट्ट—मुकम्मल चार सौ बीस का दिलचस्प भँवरजाल। असल और आदर्श के दरम्यान यह एक ऐसा बे अंत सयासी अखाड़ा है, जिसमें राजनीतिक मुर्गे, तीतर और बटेर इस अदा से लड़ते हैं कि तमाशा-बीन की आँखें फटी-की-फटी रह जाती हैं। इस ज़िंदा अजायबघर में हज़ारहा सूरत और सीरतवाले वह-वह जंतु हैं, जिनकी उछल-कूद देखकर सरकस और नौटंकी का लुत्फ़ आए। और ऐसे-ऐसे तमाशबीन यहाँ रौनक़ अफ़रोज़ रहते हैं, जो जादूगर के जमूड़े की

तरह इशारों पर नाचते हैं, बंदर के मानिंद नक़ल करते और भेड़ा-चाल में शामिल होकर मिमियाने लगते हैं।

एक हैं अक़ल के दुश्मन हमारे संघी भाई। पर्दानशीनों को डंड-बैठक करते दसियों बरस हो गए। कभी मेरे यार राजनीति से अलग खेलने का ऐलान करेंगे और कभी ज़मानत ज़ब्त कराने चुनाव के अखाड़े में आ कूदेंगे। 'परम पूजनीय' की जीवनी और 'हमारी राष्ट्रीयता' का पाठ कर लिया और समझने लगे अपने को आलिम। हिंदी बोलेंगे, तो ऐसी, जो इनके अलावा कोई समझ ही न सके। भारती संसकीरत का दम भरेंगे, और पहनेंगे हाफ़ पैंट या मर्सराइज़्ड साड़ी। बच्चे पकड़ने में लकड़बग्घों के कान काटते हैं। बुड्ढे बाप को रोटी न देंगे—भाड़ के जाए! गोवधबंदी का शोर उठाए घूमेंगे। भला, इनसे कोई पूछे, गोसेवा शोर मचाने से होती है या संसकिरत के मानी महज़ नारेबाज़ी या डंड-बैठक है?

दूसरे सूरमा हैं ये महासभाई। राग अलापेंगे अखंड भारत का, बीज बोएँगे फूट के। घर में भाई-भाई लड़ेंगे, धरती-जायदाद के लिये सर फोड़ डालेंगे और नारे बलंद करेंगे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के। एक अहमक़पन हो, तो चलिए, खैरसल्लाह। क्रिकेट-मैच के मैदान में टाँगें पसारने जायँगे। सोते में पाकिस्तान के सपने देखेंगे, और जागते में अफ़वाहों का बाज़ार गरम करते घूमेंगे। धोबी को कपड़े लाने में देर हो जाय, तो गालियाँ देंगे जवाहरलाल को। बीबी से अनबन हो जाय, तो रोने बैठ जाएँगे जिन्ना साहब को। और, इनके भी आका हैं हमारे मास्टरजी। औरों की तरह यह भी अपनी गल (दाल) पूरी करा लें, हमें क्या सिरदर्द। फ़ज़ीहत तो

यह है कि इनकी देखा-देखी घर में श्रीमतीजी को पार्टीशन का नशा चर्राया है। सुनते तो यहाँ तक हैं कि मुकारिननगर के 'ढोलकिए नागरिक' कारपोरेशन से अलग बस्ती बसाने को 'खूनी हस्ताक्षर आंदोलन' शुरू करनेवाले हैं।

तीसरे औंघट हैं ये लाल टोपीवाले। दुनिया को बुरा कहेंगे। भला, कोई पूछे, इनमें क्या सुरख़ाब के पर लगे हैं। मुसलसल छ साल इन्हें टें-टें करते हो गए, आज तक यही नहीं समझा सके कि आखिर चाहते क्या हैं। दो-चार बड़ों की शिकायत सही हो सकती है कि इन्हें कुरसी नहीं मिली, मगर ये इतवारी, नत्थू, खचेर, बद्धन, घसीटे और शबराती क्या ऐमेल्ले बनने के ख़्वाब देखते हैं? वरना ईमानदारी से इन्हें क्या हक़ है कि जनता की ज़हनियत ख़राब करें, या देश के त्यागमूरत करनधारों को खरी-खोटी सुनावें। वह तो कहिए, राम-राज्य में 'धोबियों' को छूट मिल ही जाती है, वरना उठाकर बड़े घर पहुँचा दिए जायँ, तो वहाँ क्या तोप चलाएँगे?

चले हैं बरगहीन समाज बनाने! अजब समझ-बूझ है। भला, सोसाइटी के हर तबक़े को ख़तम करके हुकूमत किस पर करना चाहते हैं? अजीब आलम है भलेमानुसों का। सुबह से शाम तक किसान-मज़दूरों के गीत गाएँगे, शाम [illegible] मिटाएँगे। पढ़ने-लिखने से इन्हें गुरेज़ है [illegible] जायँगे, जैसे अक़्ल सर्फ़ करने से ख़तम हो जायगी। चाहे जो कहें, भाई लोगों की ज़बान पर कोई लगाम लगानेवाला ही नहीं।

कोई रहनुमा ऐटली के गीत गाता घूमता है, तो कोई अमरीकी ख़ुशहाली के। किसी के सिर बिनोबा का मंतर बोल रहा है, तो कोई तासमारखाँ थर्ड कैंप का झंडा उठाए विश्व-विजय करने

निकल पड़ा है। हर छमाही यारों का झंडा बदलता है और हर तिमाही कारकुन कमेटी। टोपियों की रंगत बदलती है, प्रोग्रामों में परिवर्तन होता है और लीडरों के रुख़ तब्दील होते हैं। इस भानुमती के कुनबे में कोई टोपी रँगकर क्रांति की धमकियाँ देता है, तो दूसरा आज भी थ्री नाट थ्री का बोझ ढोए जा रहा है। एक को अमन की तहरीक से नफ़रत है, तो दूसरे को लैफ़्ट यूनिटी से पुश्तैनी बैर। म्याँ, देखो न, किसान की दुहाई देंगे और तीरथ करेंगे अमरीका जाकर।

चौथे छत के पाए हैं हमारे फटेहाल कामरेड भाई। बड़ी-बड़ी हजामत, उखड़े हुए बाल और पिचके हुए गाल लेकर हौसला रखते हैं नई दुनिया बनाने का। उधार खाय आवें, तो लौटकर कौड़ी न दें। चंदा दे दो, तो पान-सिगरेट में ही फूँक डालें। पूरी-की-पूरी पल्टन में जैसे खानाबदोश-ओ-खानाखराब भरे हुए हैं। शाम को मंच पर, रात में ज़मींदोज़ और दिन को लापता। अलग़रज़ कि आँख-मिचौनी में बड़े-से-बड़े काइयों के चूना लगा दें।

बात बड़े पते की करेंगे। बहस के मामले में अच्छे वकीलों के कान काट लें। बरग़लाने की कला में पूरे पारंगत। तोड़-फोड़ में नंबरी सिद्धहस्त और पहुँचे हुए मजमेबाज़। लगान के ऐसे पक्के और हुकुम के ऐसे पाबंद कि [illegible]। घर-घर में बंदों की पहुँच है, और दुनिया-भर में एजेंसियाँ। चाल में अकड़ ऐसी, जैसे धरती रौंद डालेंगे। मुक्का उछालेंगे, तो इस अंदाज़ से, जैसे आसमान उठा लेंगे।

मगर ये बछिया के ताऊ इतना नहीं सोचते कि अगर किसान और मज़दूर राज्य करने लगें, तो राम-राज्य के अलावा हज़ार

लीडर क्या झख मारेंगे ? कौन मिनिस्टरों की ताबेदारी करेगा ! कौन नेता-पत्नियों की मिज़ाज-पुरसी करेगा ? कौन इन बड़ी-बड़ी कोठियों में मक्का के भुट्टे बोएगा ? ज़रा इनकी कुंदज़हनी मुलाहिज़ा हो। ऐसा समाज बनाना चाहते हैं, जिसमें हुकूमत न हो। भला, पूछिए, बाबू लोग क्या कॉलेज-बालाओं को खत लिख-लिखकर जी बहलाया करेंगे ? और तो और, खुदा के काम में भी दखल देने की जुर्रत करते हैं, जैसे भूख, ग़रीबी, बीमारी और बेकारी का भाग्य और करम से कोई वास्ता ही न हो।

इन महात्माओं के अलावा हमारे कलजुगी राम-राज्य में एक बड़ा तबक़ा उनका है, जो बैंगन की तरह कभी इस करवट, कभी उस करवट कलाबाज़ी लगाते रहते हैं। उनकी जानिब जनता जाय भाड़ में, हुकूमत जाय चूल्हे में, यारों का हलुआ-पूरी सलामत रहे। वक़्त पड़ने पर अल्ट्रा सेकूलर हो जाय। हस्ब ज़रूरत गिरगिट की तरह रंग बदल लें। बुद्ध और गांधी से लेकर मार्क्स तक की दुहाई दे डालें। शायरी से शिकार और कल्चर से एग्रीकल्चर तक हर मसले पर इज़हारे-ख़यालात कर डालें। मुंडन और निकाह से लेकर उद्घाटन तक की हर रस्म में बुलाए, बिना बुलाए प्लेटें साफ़ करने जा धमकें। सो बिरादरान, यह है अपना कलजुगी राम-राज्य, जहाँ ज़माने-भर की संस्कृतियाँ, दुनिया-भर के विचार और हर जमात के मेंबर प्रयाग के पंडों की तरह अपना-अपना झंडा गाड़े हुए हैं।

और हमारी प्यारी बहनों के सिर तो राजनीतिक रोमांस का भूत और भी ज़ोरों से मँडरा रहा है। मियाँजी दिन-भर साहब की डाट-फटकार झेलें और जब गिरते-पड़ते घर पहुँचें, तो कल्लू की अम्मा का लेक्चर सुनें। देवियों में यह मर्ज़ असल में शुरू किया

है इन नेता-पत्नियों ने । चौका-बरतन इनकी शान के खिलाफ़ है । घर का काम-काज करते जूड़ी चढ़ती है । खानदान की मर्दुम-शुमारी बढ़ाने और पड़े-पड़े हुकुम चलाने के अलावा बहुत किया, तो हफ़्ते-भर रटकर स्पीच दे आईं । काली माई की तरह मुखार-विंद की लिपाई-पुताई की, और चल दीं वैनिटी पर्स का कमरतोड़ बोझ उठाए, कुत्ते-पिल्लों से अठखेलियाँ करतीं । चली हैं देश-सेवा करने ! नारी-जागरण न हुआ, आदमियों की नींद हराम हो गई । बच्चों का तो बेड़ा गरक़ ही समझिए । सच पूछिए, तो ये लेडीज़ फ़र्स्ट की बीमारी अगर दस-पाँच साल और चली, तो आदमियों के गले चूल्हा-चक्की का चार्ज बँधकर ही रहेगा, क्योंकि अभी तो हमारे राम-राज्य की इब्तिदा है ।

राम-राज्य भी कैसा ! जिसमें रियाया जिस्मानी-रूहानी, दैहिक-दै[illegible], [illegible] के ताप से छुटकारा पा चुकी है । यह [illegible] चिल्लाए, तो समझ लीजिए कि राजनीतिक रोमांस लड़ाता है । वरना यहाँ मेहनतकश के पेट ही नहीं होता । नामाचार को हुआ भी, तो पीठ से मिला हुआ । इस पर ग़ल्ले की क़िल्लत दूर करने के हज़ार नुस्खे हैं—दूध पीजिए, फल खाइए, निरचा भोजन के लिये मुंशियानीजी की रसोई में जा धमकिए । जेब खाली हो, तो जेब साफ़ कीजिए ।

हाँ, अगर यह हौसला न हो, तो ग़म खाकर जीते-जागते रहिए । पेट पर पत्थर बाँधकर बदहवासी की नींद सोइए । वरना किसी जुलूस में शामिल होकर गोली खाइए, और हमेशा के लिये रोटी-रोज़ी के नाचीज़ पचड़े से जान छुड़ाइए । यहाँ के शहरियों को प्यास भी नहीं लगती ! हाँ, मुहब्बत की प्यास ज़रूर होती है । इसीलिये

तो आँसुओं के घूँट पी-पीकर ये मजनूँ लँगोटी में फाग खेलते हैं।

कलजुगी राम-राज्य में खौफ़, ग़म-ग़ुस्सा तो पुलिस की मर्ज़ी के हवाले कर दिया गया है। लोग दिगंबर पैदा होते हैं और बिला कफ़न दफ़नाए जा सकते हैं, क्योंकि इससे इकानामी होती है, यानी नेशनल-वेल्थ बढ़ती है।

कलजुगी राम-राज्य की सबसे महान् और तारीख़ी बात तो यह है कि जो काम वशिष्ठ, विश्वामित्र नहीं कर सके, वह यहाँ के मंत्रिमंडलों ने कर डाला है। मुराद यह कि लेक्चरों के बेअंत, बेलगाम, बेसिर-पैर सिलसिले ने लोगों को त्यागी, महात्मा, परमहंस बना डाला है। मोह, माया और ममता की बेड़ियाँ ऐसी टूटी हैं कि बीवी खाविंद का यक़ीन नहीं करती, बेटा बाप की जेब तराशने के चक्कर में मशग़ूल रहता है। शागिर्द उस्ताद को चकमा देता है, और गुरुघंटाल ठहरे कंप्लीट उस्तादजी। गोया कि सब समझते हैं, अकेले आए हैं, अकेले जाएँगे, साथ चलेगा तो सिर्फ़ बैंकबैलेंस। फिर भला, कैसी रू-रियायत? किसका क्या लिहाज़? हक़ीक़त यह है कि हर बशर सयासी हथकंडों और प्रचार की ताक़त समझ गया है। फिर क्योंकर कोई साधना के चक्कर में वक़्त की वाहियात बरबादी करे? यों ज़िंदगी के हर गोशे में खुशगवार नारों, निखालिस लफ़्फ़ाज़ी और मौक़ा-परस्ती से ही काम चल जाता है, तब कोई बिला वजह हाथ-पैर क्यों हिलाए?

आप इसे राजनीतिक रोमांस कहें या कुछ और। हक़ीक़तन, हमारे हर बड़े हुक्काम की ज़ुबान पर महात्मा का नाम है और उसी के सोने-जागने में सर्वोदय का माज़ी, हाल और मुस्तक़बिल। कोई मरे, कोई जिए, बेचारे किस-किसका मातम मनाएँ? देश की

चिंता ही क्या कम है, जिसमें घुल-घुलकर हाथी हुए जाते हैं। हम तो कहेंगे कि जनता ही नाशुक्री है, वरना किसी भी बड़े हुक्काम से पूछ लीजिए, आजकल हज़ार-बारह सौ में क्या आता है। और साहब, ऊपरी में किसी का क्या साझा ? पूरब जनम के पुन्न हैं ! जलनेवाले जला करें।

आखिर कोठी-बँगला, नौकर-चाकर, कार-सवारी न रक्खें, तो देश की शान-शौकत मिट्टी में मिल जाय। लाट-गवर्नरों की परंपरा को बट्टा लग जाय। और, वह हाय-हाय करनेवाला महात्मा फ़क़ीर भी तो नहीं रहा। भला बताइए, फिर काहे का डर ? देश-दुनिया का काम करते हैं, दिन-रात पिसते हैं, उद्‌घाटन करते हैं, फ़ोटो खिंचाते हैं, जन-संपर्क स्थापित करते हैं, साम, दाम, दंड, भेद के नित नए नमूने पेश करते हैं। अब इतने पर भी कोई नुक़्ताचीनी या शेम-शेम करे, तो साफ़ ज़ाहिर है कि जनता किसी सयासी लीडर के बहकावे में है। वरना अखलाकन आज़ादी दिलाने के बदले हमें तो सात पुश्त तक इन साहबाने-वक़्त का एहसानमंद होना चाहिए।

गोरे और काले बाज़ार में, गली-गली और चौराहे-तिराहे पर उनकी शोहरत का शोर-शराबा नहीं थमता, तो राम-राज्य क्या करे ? मनु की संतान मानव घूरे और गोबर में अन्न के दाने बीनता है, तो लोक-प्रिय सरकार क्या करे ? कौन उसने भाग्य और मक़सूम के मसले सुलझाने का वायदा किया है ? किया भी हो, तो वायदा-खिलाफ़ी क्या पाप है ? मुहब्बत की दुनिया में रोज़ ऐसा होता है।

कैसा होनहार है जनतंत्र का यह नव शिशु, यह तो उसी दिन मालूम हो गया था, जब उसने राम-राज्य के पालने में विधान-जैसे लंबे-लंबे पैर पसारे थे। थोड़े-से अरसे में ही हज़ारहा योज-

नाएँ बन गईं, टनों कागज़ रँग दिया गया। हर तरफ़ तरक़्क़ी-ही-तरक़्क़ी, अमरबेल की तरह बढ़ती दिखाई देती है—चोरी, डकैतियाँ, महँगी, भुखमरी, बेकारी, क़िल्लत, मकानों का टोटा, हर चीज़ में तरक़्क़ी-ही-तरक़्क़ी।

मुंशी-मुहर्रिर लोग अब लाट-गवर्नर तक हो सकते हैं। क्या नहीं बढ़ा? अफ़सरों के ओहदे? हाकिमों के रुतबे? मिनिस्टर-पत्नियों के मिज़ाज? मुलाक़ातियों की तादाद? सैर, सपाटा, टैक्स, बजट, हर चीज़ में बेशुमार इज़ाफ़ा—क्या जनता के मतालबे और क्या प्रदर्शन-हड़तालें। राम-राज्य के इस पौदे पर हर तरह की मुसीबतें भी नाज़िल हुईं। मगर वाह री नौकरशाही! हलाल करके रख दिया। न लबों पै फ़रियाद, न दिलों में टीस। हैं न मिट्टी के शेर? जिस तख़्त पर हाथ रख दें, वही तख़्ता हो जाय। सत्ता के साथ-साथ सत्यानाश के सारे साजो-सामान मुहइया कर दें।

इतना सब कुछ होते हुए भी भाग्य साथ न दे, तब इन बेगुनाहों का क्या क़ुसूर। देखिए न, बाँध बनाए, तो कमबख़्त चू पड़े। आज़ादी मिली, तो पाकिस्तान ने जान मारनी शुरू कर दी। ख़िदमते-ख़ल्क के लिये कमर कसी, तो गालियों का तोहफ़ा मिला। चुनाव कराए, तो नाशुक्री पब्लिक ने बैलट-बक्सों को ही झोंकना शुरू कर दिया। बोलने की आज़ादी दी, तो लोगों ने सरेआम टीका-टिप्पणी शुरू कर दी। वन-महोत्सव को बाप का-सा माल समझकर बकरियाँ टूट पड़ीं। क़ानून बनाए, तो रियाया का विद्रोह भभक उठा। 'अधिक अन्न उपजाओ' का सारा हौसला आँधी-पानी और टिड्डी ने पस्त कर दिया। और तो और, वक़्त गुज़ारने को सभा-समितियाँ बुलाईं, तो यारों पर हुड़दंग की हुड़क सवार हो गई।

हम तो समझते हैं, ऐसी नाशुक्री जनता का एक ही इलाज है, और वह यह कि मुट्ठी-भर अन्न के लिये चिल्लाए, तो झोली-भर गोलियाँ बिखेर दी जायँ। जीने का मतालबा करे, तो खुदकशी से पाबंदी हटा ली जाय। प्रदर्शन-सतियागिरह की धमकी दे, तो फ़ौरन् तीन लाख की हवेली दिखाई जाय। न जमानत का झंझट, न मुचलके का टंटा। स्कूली छोकरे हेकड़ी दिखाएँ, तो पी० ए० सी० के हवाले कर दिए जायँ। मुदर्रिस चीं-चपड़ करें, तो स्कूलों में ताले डलवा दिए जायँ। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।

इसके अलावा जश्ने-जम्हूरियत के इस शुभ मुहूरत में हर दीवान-दरोग़ा को मजिस्ट्रेटी अखितयारात अता फ़रमाए जायँ। क्योंकि राम-राज्य में भी तो वानर-भालुओं को मामूली लूट-खसोट की छूट-पट्टी थी ही। फिर यह लंका-विजय कैसी? जिसमें इतना रोमांस भी न हो। अब रहे ये शायर, अदीब और अख़बारनवीस। इन्हें भी किसी-न-किसी दफ़ा के मातहत ताउम्र के लिये सरकारी मेहमान बना लिया जाय। चैन की छानेंगे, तबला खटकाएँगे और मन-ही-मन दुआ करेंगे—"हम रहें न रहें, आक़िने-वक़्त रहें, यह दौरे-हुकूमत सरसब्ज़ रहे।"

वरना हम भी आदमी थे काम के

जुम्मा-जुम्मा आठ रोज़ हुए हैं। हमें एक टायटिल या डिगरी मिली है—किसी कनवोकेशन-हॉल में नहीं, बल्कि चंद हसीनों की महफ़िल में। और उसका इश्तिहार चस्पाँ हुआ है कॉमन रूम के नोटिस-बोर्ड पर। क्या दिलकश लिखावट है, जो हमारे दिल पर नक़्श हो गई है। तब से मुतवातिर परेशान हैं। काश वे मुलायम हाथ हाथ आ जायँ, तो सर-आँखों से लगा लें। वह रोशनाई मिल जाय, तो आबेहयात समझकर पूरी दावात हलक़ में उँडेल लें, और अगर वह नुकीला पारकर ही नज़र पड़ जाय, तो ख़ंजर समझकर सीने में भोंक लें।

वरना हम भी आदमी थे काम के

आपसे क्या दुराव, उसका मज़मून है—"मैं अपने पथ का राही हूँ, जग की मुझको परवाह नहीं।" जिस क़दर मुबारकबादियों के पैग़ाम और बधाई के संदेसे हमें मौन और सांकेतिक भाषा में मिले हैं, सोचते हैं, होली और होली-डे के मूड में उन्हीं की जवाबदेही कर डालें। धन्यवाद के हम क़ायल नहीं। भले ही आप हमें नाशुकरे का एक टायटिल और क्यों न दे डालें। क्योंकि बेवफ़ा, निर्मोही, परदेसिया और न-जाने इस तरह के कितने ख़िताबात का भी हमने शुकरिया अदा नहीं किया। आप जानना चाहेंगे कि इसी को क्यों आख़िर इस क़दर तूल दी जा रही है।

जवाब में हम सिर्फ़ इतना अर्ज़ करना चाहते हैं कि ज़िंदगी के पिछले दिनों हमने शहर-भर के गली-कूचों की इस क़दर ख़ाक छानी है कि उससे आजिज़ आकर बीमार पड़ गए; और अब तो तबिअत इस हद तक नासाज़ है कि घर से सिर्फ़ कॉलेज तक ही आते-जाते हैं। अपने इस पथ से गुरेज़ तो तब करें, जब कहीं एक रात टिकने का भी आसरा हो। मुए जग की ही क्यों परवाह करें? किसी ने हमसे भी पूछा कि तबियत कैसी है?

अब आपकी जानकारी के लिये इसी अर्ज़ किए देते हैं कि हमें न बात की शिकायत है, न पित्त का आज़ार, कफ़ का प्रकोप भी नहीं। मगर फिर भी एक मर्ज़ है, जिससे हमीं क्या, ज़माने-भर के नौजवान परेशान हैं। यह मर्ज़ है आज़ारे-मुहब्बत। यों आज हुस्न और मुहब्बत का राग अलापनेवाले गली-गली मारे फिरते हैं। उनमें से कुछ चहलक़दमी का बहाना लेकर हज़रतगंज की चलती-फिरती दूकानों से ख़रीदारी करना चाहते हैं। कुछ हैं, जो सिनेमा-घर के आस-पास की चलती-फिरती तस्वीरों से आँखें सेंका करते

हैं। इनके अलावा कुछ गरीब ऐसे भी हैं, जो ख्वाबों के सहारे ही मरे हुए दिल की तमन्नाएँ मिटा लेते हैं। इस तरह जवानी का काफ़िला बड़ी तेज़ी से गुज़रा जा रहा है। और, ये बदनसीब हैं, जो ज़िंदगी के चौराहे पर खड़े-खड़े मंज़िल की राह तका करते हैं।

अपनी दास्तान इनसे मुख्तलिफ़ है। हमें तो बंदापरवर, इस 'एट फ़र्स्ट साइट'वाले मसले ने दार्शनिक, शायर और न-जाने क्या-क्या बना डाला। अपनी तो बेरोज़गारी जाती रही। 'नो वेकेंसी' के सायनबोर्डों से पिंड छूटा। इधर अम्मीजान की सख्तियाँ बढ़ती जा रही थीं, उधर अब्बाजान ने भी धुआँधार लेक्चर पिलाना शुरू कर दिया था। और ऊपर से बदक़िस्मती यह कि मुदर्रिस साहबान ने नकेल डाल रक्खी थी। तो आप समझिए कि इन हालात में हमें मुहब्बत का पेशा अख्तियार करना पड़ा।

हम आपसे ब-ख़ुदा कहते हैं कि हमें मुहब्बत, इश्क़ और इस क़िस्म के अल्फ़ाज़ की जानकारी भी नहीं थी। हाँ, एकाध बार रिक्शे-ताँगेवालों को ज़रूर कहते सुना था, तो कोई खास तवज्जह देना भी मुनासिब नहीं समझा। मुशायरे में इनसे फिर पाला पड़ा। उर्दू न जानने के सबब से हमने अंदाज़ भिड़ाया कि ये भी वैसे ही कुछ शब्द होंगे, जैसे वल्लाह, बहुत ख़ूब वग़ैरा - वग़ैरा। मगर साहब, ये लफ़्ज़ तो जैसे हमारे पीछे पड़ गए थे।

कॉलेज में दाखिले के साथ-साथ फिर इनसे मुलाक़ात हुई। वह भी दिन में एकाध बार नहीं, बल्कि दसियों बार, बीसियों बार। हम हैरान थे। आख़िर में हमारी वह आफ़त काम आई, जिस पर हिकारत और बेवक़ूफ़ी की दर्जनों सनदें हमने हासिल की थीं।

हमने सोचा, ज़रूर ही यह भी जयहिंद की तरह के अल्फ़ाज़ हैं, जिन्होंने नमस्ते और आदाब की जगह ले ली है।

हमारी तीखी समझ-बूझ मुलाहिज़ा हो। हमने सोचा, मुमकिन है, ये भी राशनकार्ड और कंट्रोल की तरह लड़ाई के ज़माने में पैदा हुए हों। इतने पर भी तसल्ली न हुई, तो भाषा-विज्ञान की एक सहपाठिन से पूछ बैठे। खुदा उनकी माँग और गोद भरे। तुनककर बोलीं—"आपके कोई बहन नहीं है क्या? उन्हीं से पूछ लीजिए।" बेचारी को कुछ आता, तो बता ज़रूर देतीं। मगर यह तो नसल ही कुंदज़हन है, नाम से फ़ेयर-सेक्स है, तो क्या हुआ?

हाँ, जनाब, तो हम आपसे बयान करना चाहते थे ज़माने-भर के नौजवानों की तकलीफ़। यानी वह तकलीफ़, जिसमें हम बरसों मुब्तिला रहे हैं। एक अरसे से हम मीठा-मीठा-सा दर्द, सिहरन और बेचैनी तो महसूस करते थे, मगर यह न जानते थे कि आखिर ये हैं कहाँ और क्यों हैं। ज़ाहिरा तौर पर तो चंद अलामतें ही नज़र आती थीं, जैसे, जब देखो, आँखें गीली किए बैठे हैं। बिहारी और ग़ालिब के अशआर चाटे जा रहे हैं। खुदा के फ़ज़्लो-करम से मुहर्रम की पैदायश है अपनी, और उन दिनों तो खुसूसन ताज़िया नज़र आते थे। ये सब बिला सबब नहीं था, क्योंकि जिस दिन से सुना था, "मरने का नाम ज़िंदगी है, सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूँढ़ते थे।"

इस मर्ज़ की बदौलत हमें चौक की सवारियाँ अपनानी पड़ीं। मेडिकल कॉलेज भी गए। [illegible]-वार्ड में भी दिखे और जनाब-वाला, खूबसूरत नर्सों से भी मुलाक़ात की और तब, "इश्क़ से तबियत ने ज़ीस्त का मज़ा पाया, दर्द की दवा पाई, दर्द बेदवा पाया।" इस

दर्द का ताल्लुक़ दिल से था। और दिल के बारे में दिलवालों की राय है कि "वह एक दरिया है, समंदर से कहीं गहरा।" खैर, इससे खुलकर इनकार करने की हिम्मत तो हममें नहीं थी, मगर दिल में यह ज़रूर सोचा कि यह ग़लत है---एकदम ग़लत और सरासर झूठ।

क्योंकि अपना दिल तो हमेशा से एक गंदा परनाला है, जिसमें ज़माने-भर की ग़लाज़त एक लाश की तरह सड़ रही है। एक अरसा दराज़ हुआ, हमारा यही दिल बीमार हो गया। यक़ीन मानिए, उछाले-उछाले फिरते थे। अपने दिल का हाल हमीं जानते हैं। यों इलाज और तीमारदारी के लिये हमें लुक़मान हकीमों का टोटा नहीं था, खसूसन् इसलिये भी कि हमने तो तीमारदारों से ऐलानियाँ कह रक्खा था कि "माना कि तुम हो नाज़ुक, खिदमत नहीं कर सकते, बैठे मरीज़े-दिल को तसकीन ही दिया करना।"

फिर भला, हमें कमी किस बात की थी। हम भी जवान थे, दिल भी जवान था। हम भी किसी के दिल के राजा थे। राजा ही क्यों, चक्रवर्ती एंपरर कहिए। इसलिये कि हमारे दिल की अलग दुनिया थी---जन्नत, नजात और बहिश्त से कहीं ख़ूबसूरत। अगर हमारी फ़राख़दिली पर आपको शक हो, तो उन हसीनों से हमारी दानवीरता पूछिए, जिन्हें हमने संगदिल, ज़ालिम और न-जाने क्या-क्या तोहफ़े अता फ़रमाए थे।

अब आप समझ गए होंगे कि हमारा दिल क्या कुछ रहा होगा। इस क़दर नाज़ुक कि ज़रा-सी ठेस भी बहुत काफ़ी थी। आज के लौंडे उसका मुक़ाबला करते हैं शीशे से। हमें याद आता है वह शेर, जिससे हमारे दिल का नक़्शा ज़ाहिर है। ज़रा दिल थाम-कर उसे भी सुन लीजिए। लिखा है, "दुनिया के रुख़े रोशन पै जो

तिल था, हमारा ही तो जल-भुनकर सिमटकर, रह गया दिल था।"

यह था हमारा दिल, जिसे ख़ुशी की एक मामूली-सी लहर भी बल्लियों आसमान में उछाल देती थी। वह तो ग़नीमत हुई, मुहब्बत के आसमान में किसी चील-कउए की निगाह उस पर नहीं पड़ी। और जिस-तिस पंछी ने उस पर तवज्जह नहीं दी, हम उन्हें ग़लती से 'वैजीटेरियन' मान बैठे। वरना ऐसा दिल, जिसे एक ठंडी साँस से ज़ुकाम और निमूनियाँ हो जाय, बहुत कम सीनों में होता है।

बहुत दिन तो हमें पता ही नहीं चला कि हमारे दिल नाम की भी कोई चीज़ है। मगर एक दिन एकाएक मालूम हुआ कि सात पसलियों की आड़ में कोई स्टीम एंजिन धकाधक चल रहा है। न पूछिए, क्या हालत हुई उस वक़्त। हमारी हालत एक्स-रे कराके लौटे हुए उस मरीज़-जैसी हो रही थी, जिसे टी० बी० डिक्लेयर कर दी गई हो। हमउम्र दोस्तों को जब मालूम हुआ, तो यारों ने बताया कि जनाब, यह इब्तदाए इश्क़ है। और मशवरा दिया कि इस मर्ज़ को जल्द-से-जल्द रफ़ा-दफ़ा किया जाय। बस, फिर क्या था। तीमारदारी के लिये माकूल तबीब की तलाश शुरू कर दी गई, और आख़िर में हुआ वही, जो मंज़ूरे-ख़ुदा था, क्योंकि "शहादत थी लिखी क़िस्मत में, जो दी थी, ये ख़ू मुझको; जहाँ तलवार को देखा, झुका देते थे गरदन को।"

इस तरह जो हमारा इलाज हुआ, वह दर हक़ीक़त मर्ज़ से भी ज़्यादा तकलीफ़देह साबित हुआ। आप तो घबरा जायँगे सुनकर। मर्ज़ इस क़दर संगीन निकला कि हफ़्तों मरहम-पट्टी के बाद भी न गया, न गया। बल्कि बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की। पर हमने

तो उसे शिफ़ा करने का क़तई अहद कर लिया था। डॉक्टरों से इस क़दर चिढ़ सवार हुई कि एक के बाद एक बदलते ही गए। लुत्फ़ यह था कि अगर एक को तिब्बी तरीक़े पसंद थे, तो दूसरा एलोपैथी का हिमायती था। तीसरा अगर आयुर्वेद का उग्र समर्थक था, तो चौथा होमियोपैथी पर ही फ़िदा था। गोया कि हमारी सिम्पैथी में ये दुनिया-भर की पैथियाँ आज़माई जा रही थीं।

आख़िर हम कोई वाजिदअली शाह तो थे नहीं, जो इन सबके नाज़ उठाते। न दिल को 'लेबोरेटरी' बनाना चाहते थे, और उसका 'पोस्टमार्टम' कराते भी डर लगता था। वह इसलिये कि एक तो 'सइयाँ दिल ले गए डाल बटुवे में' वाले भजन से ही हमें दिल की क़ीमत का कुछ-कुछ अंदाज़ हुआ। और दूसरे, हम यह भी बख़ूबी समझते थे कि "बहुत शोर सुनते हैं पहलू में जिसका, जो चीरा, तो एक क़तरए ख़ूँ का निकला।"

इस तरह के इलाजों से आजिज़ आकर हमने गंडा-तावीज़ का दामन थामा। एक तो वैसे ही टोने-टोटके और मौलवी लोगों के फ़तवों पर हमारा ख़ानदानी अक़ीदा जमा हुआ है। दूसरे, इस-लिये भी कि हार-जीत, सट्टा, रेस, लाटरी, मनपसंद शादी, बल्कि ज़िंदगी के हर शोबे में हम इनकी करामात पढ़ चुके थे। फिर क्या था, पड़ने लगे गले और बाज़ू पर फंदे। हर मंगल को पूरे पाँच आना यानी २० पैसे शामीना साहब को बेनाग़ा नज़र कर आते।

कभी हाथ पर, कभी पैर पर पट्टी बाँधकर यूनीवर्सिटी जाते। कभी महीनों नहीं नहाते, तो कभी हफ़्तों दाढ़ी बनाने का नंबर न आता। आप सोचते होंगे, ये नुस्खे हमें दिलीपकुमार या राजकपूर साहब ने बताए हैं। जी नहीं। यों गुज़ारने को बरसों हमने निम्मी,

नरगिस और मधुबाला की तसवीरों के सहारे गुज़ार दिए। मगर इन 'ज़िद्दी' और 'आवारा' क़िस्म के लोगों से बात करना भी हम अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे। हमें तो एक इलहाम होता था। प्रकृति की तरफ़ से कहिए, ख़ुदा की तरफ़ से कहिए। बहरहाल अब हमारा ख़याल है कि यह भी थी किसी माया की करतूत, जो हमें हज़रतगंज से आई० टी० कॉलेज और गोलागंज से महिला-कॉलेज तक का रास्ता तय करने के लिये मजबूर करती थी। सच पूछिए, तो उन दिनों हमें यही ज़िंदगी का मक़सद नज़र आता था।

माशाअल्ला बिना ब्रेक और बिना मडगार्ड की साइकिल लिए हम लाट साहब के पायलट की तरह मुस्तैदी से सड़कें नापा करते थे। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना होता था कि हम किसी एक कार के आगे चलने के क़ायल न थे। बल्कि इक्का, ताँगा, रिक्शा, लेडी-साइकिल और पैदल सवारियों तक के पीछे सरपट लगाया करते थे। वक़्त की बात है कि दोस्तों का एक पूरा बटैलियन हमारे दाएँ-बाएँ चला करता था। उन जाँनिसार दोस्तों की याद भी अब हमारे दिमाग़ में कुछ वैसी ही उथल-पुथल पैदा कर देती है, जैसे किसी बूढ़ी नायिका के दिमाग़ में विगत की रंगीन यादें।

हमारे उन जाँबाज़ दोस्तों में हर फ़न के माहिर मौजूद थे। हीरो ने ४२० में कमाल हासिल कर रक्खा था, तो नवाब ने लखनऊ की नज़ाकत को बरक़रार रखने का ठेका ले रक्खा था। [illegible] यह हज़रत दिसंबर और जनवरी की कड़ी सर्दी में कमीज़ के बटन खोलकर रेशमी रूमाल से सीने पर हवा किया करते थे। लीडर भीड़ से भरी सड़कों पर ट्रिपिल लोडिंग और साइकिल के अजीबो-

ग़रीब करतब दिखाया करता था। इन मुबारक हस्तियों में शायर भी थे, जिनके एक-एक अशार से इश्क़ टपका पड़ता था।

हमारे मुहब्बत के तरानों में कभी 'लारे लप्पा' के बोल फूट उठते थे, तो कभी 'लाल दुपट्टा' के। कभी हम कोरस की तरह बँधी आवाज़ में एलान करते थे, 'क़िस्मत हमारे साथ है', तो दूसरे ही मिनट 'भंगन की छोकरियाँ' पर समाँ बाँध देते थे। शायरी की बारीकियाँ मुलाहिज़ा हों, "क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गए, मैंने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।" 'सुंदर' और 'बहुत खूब' के अल्फ़ाज़ को हम पिटा-पिटाया मानते थे, और इसलिये जियो, मार डाला, ज़ालिम आदि के ऊँचे स्वरों से हम इन पर दाद दिया करते थे।

बातचीत का हमारा अपना तौर-तरीक़ा था। हर फ़िकरे के बाद कम-से-कम एकाध बार साले आदि अलंकरण का इस्तेमाल तो हस्बमामूल हो गया था। पाणिनि और अष्टाध्यायी का झंझट छोड़कर हमने अपने 'कोड वर्ड्स' को ख़ुद ही गढ़ा था। मिसाल के लिये, छलिया, नौशा, राजा, बाबू, प्यारे और छैला वग़ैरा वग़ैरा।

इस तरह ज़िंदगी के मुख़्तलिफ़ मसायल पर सोचने-समझने का हमारा अपना नुक़्तेनज़र था। जैसे औरत के मानी हम समझते थे बेवफ़ाई; इश्क़ के मामले में हम मिस्टर कालीदास से कुछ-कुछ, पंडित शेक्सपियर से बहुत कुछ और हज़रते बिहारी से सौ फ़ीसदी हमराय थे। ज़िंदगी के बारे में हमारा ख्याल था कि ज़िंदा रहना ही ज़िंदगी नहीं है, बल्कि पीना, पिलाना ही ज़िंदगी का जुज़ है। यों अपनी दौलत और फ़िलसफ़े का थोड़ा-सा तज़करा हमने अपनी वसीयत में भी कर दिया था। लिखा था, "चंद तस्वीरें

बुताँ, चंद हसीनों के खुतूत, बाद मरने के मेरे घर से ये सामाँ निकले ।"

जाने दीजिए, इन पुरानी बातों को । क्योंकि, आज भी जब याद आ जाती है, तो दिल के घाव हरे हो जाते हैं । जो कुछ हमने अर्ज़ किया है, वह तो चंद अलामतें थीं उस संक्रामक रोग की, जिसे आज़ारे-मुहब्बत कहा जाता है । खुदा समझे उन्नीसवीं सदी के उन बड़े-बूढ़ों को, जो बिना हमारी तकलीफ़ का क़यास लगाए ऊल-जलूल बक जाया करते थे !

तो जनाबेमन, हम इस मर्ज़ से परीशान थे । न पढ़ने में मन लगता था, न लिखने में । अगर प्रौक्सी से ही काम चल जाता, तो क्यों हम पचास-पचास मिनट के पूरे तीन घंटे रोज़ाना 'बोरियत' उठाते । बी० ए० में तीन साल रिसर्च करने के बाद हमने डिगरी की उम्मीद ही छोड़ दी थी । माया, मनोहर, फ़िल्म इंडिया और स्क्रीन, हैल्थ ऐंड ऐफ़ीशैंसी का पाठ तो हम दर्जे में भी कर लेते थे । दर असल तालीम को कफ़न दफ़नकरके हम जी रहे थे ।

चौबीस घंटे बदहवास रहते और दिमाग़ी हालत हो गई थी एक पागल-जैसी । बस, जिधर को मुँह उठ जाता, उधर ही चल पड़ते । सही मानियों में हज़रते दाग़ बन बैठे थे । जहाँ 'बैठ गए, बैठ गए । जहाँ बैठे, वहीं बुतख़ाना बन गया । जिस राह पर चले, वही राहे-मंज़िल बन गई । काफ़ी हाउस और बस-स्टैंड हमारे पाकीज़ा तीरथ थे । महज़ महात्मा या सूफ़ी का एक ख़िताब ही न मिला था, वरना आप ही बताइए, हमारी साधना में क्या कमी थी ? जब दुनिया एप्रिल और मई की तेज़ गर्मी में एग्ज़ामिनेशन-हॉल और दूसरी जगह पंखे की हवा खाया करती थी, हम आहों-भरी लू में

तपस्या किया करते थे। जब मूड आ जाता, तो जू और सिकंदर-बाग़ की कंदराओं में भी भटकने चले जाते।

हम आपसे सच कहते हैं कि बस की शोख़ कंडक्टर छोकरियों को लिफ्ट देना तो हमने अब बंद किया है। एक वह भी ज़माना था, जब हमारी एक आवाज़ पर क्या मजाल थी कि बस का पहिया एक इंच भी आगे रेंग जाय। पहुँचते-पहुँचते अगर पायदान ख़ाली न होता, तो लटककर चलने में हम भी न चूकते। उन दिनों ट्रैफ़िक-पुलिस, ख़ुफ़िया-पुलिस, गश्ती-पुलिस, अहिला-महिला, सब तरह की पुलिस से हमारी ख़ासी जान-पहचान हो गई थी। हमारा-उनका रोज़ का वास्ता जो था। अपनी हरकतों से न वह बाज़ आते न हम बाज़ आते।

थोड़ा-सा सिनेमा का तज़करा भी ज़रूरी है, क्योंकि स्टार बनने का शौक़, लाला और हजारे बनने की तमन्ना, यही ज़िंदगी की दो-चार ख्वाहिशात थीं। ईमानदारी की बात है, सिनेमा और सुसरालवालों में हमने कभी तमीज़ नहीं की। यही सबब था कि दोस्त-अहबाबों के बीच जब भी सिनेमा-मैनेजर के लिये हमने साले लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया, किसी ने एतराज़ नहीं किया। अपनी इस हिमाक़त पर अब अफ़सोस ज़ाहिर करना भी बे-मानी है; क्योंकि उन दिनों तो बिना तीन शो देखे हमें खाना हज़्म न होता था।

अब आपसे भी क्या छिपाएँ। इँगलिश पिक्चर्स तो ख़ाक़ समझ में न आतीं। मगर फिर भी सुरैया छाप बुशशर्ट की आबरू बचाने के लिये कैपीटाल और मेफ़ेयर की देहलियों पर एड़ियाँ रगड़ना लाज़िम हो जाता था। ये ही दो-चार नुस्खे तो हमारे पास थे, जिनकी बदौलत दोस्तों में हमने वह रुतबा पाया, जो कम लोगों

को मयस्सर होता है। मिसाल के लिये 'मीरे-मजलिस' और 'बादशा' के दो खिताबात हम पर सवार थे। यही तो वह चीज़ थी, जिसने बिना शादी-ब्याह के हमें दूल्हा बना डाला था। चाल में एक अजीब अकड़ थी। चेहरे पर अजीब रौनक़ और सीने में ऐसा तनाव, जिसकी मिसाल देना भी नामुनासिब होगा। हमारी हर हरकत में एक अजीब अंदाज़, एक मासूम नज़ाकत और एक शोख चुलबुलाहट थी। और उस पर यारों की वाहवाही दिमाग़ खराब किए देती थी।

जनाबवाला, इसी की बदौलत शिकारियों की फ़ेहरिस्त में लिखा गया था हमारा नाम। हिरनी की आँखें, फ़ाख्ता की मासूमियत, बुलबुल की तड़प, हथिनी की चाल और बिजली की चमक, न-जाने किन-किन चीज़ों पर हम तीरंदाज़ी के करिश्मे दिखाया करते थे। महारत इस हद को पहुँची हुई कि "तीर चलने भी न पाते, दिल निशाना बन जाते।" और शिकार खिंचा चला आता, गोया हमारी कमान भौंहों में किसी चुंबक की कशिश हो।

तो यह था हमारी ज़िंदगी का निज़ाम। मुख्तसर यह कि ११ बजे जब सोकर उठते, तो खामोश दोपहरी होती थी, फिर उदासी में डूबी हुई शाम। आखिर में जब आधी रात गए घर लौटते, तो निराशा के अँधेरे से शराबोर रात हमारा इंतज़ार करती थी। हमें अच्छी तरह याद है, रात-रात-भर शमा और परवानों की खाना-जंगी देखते-देखते गुज़ार देते। थककर चारपाई पर गिर जाते, तो भी करवटें ही बदलते रहते। नींद मुमकिन है, इसलिये काफ़ूर हो गई हो कि सपनों में हमेशा 'लूज़र' ही रहे हैं।

यह सब मुनासिब भी था, क्योंकि—"घट गई वस्ल में, फ़ुरक़त में बढ़ी थी जितनी; रात आशिक़ की कभी दिन के बराबर न हुई।"

चिराग़ का सुलगना देखकर हमें घबराहट होती थी कि कहीं ज़िंदगी का चिराग़ भी स्नेह-शून्य न हो जाय। मगर क़िस्मत में तो यही लिखाकर लाए थे। वसंत की साधना में जीवन का पतझड़ भी आ गया; और हम हैं कि हसीनों के लान में सूखे पत्तों की तरह ठोकरें खाते फिरते हैं।

ज़िंदगी का तूफ़ान शांत हो चुका है। रात की ख़ामोशी अपने इर्द-गिर्द चक्कर काटा करती है। मौत और ज़िंदगी की धूप-छाँह से दिल को तस्कीन दे रहे हैं। कहने को ज़िंदा हैं, मगर ज़िंदादिली जाती रही है। मरते हुए भी डर लगता है, क्योंकि पुनर्जन्म में विश्वास न होते हुए भी, आठ पहर के दिन में आठ-आठ सौ बार तक मरे हैं। अब सोचते हैं, जब आप बड़े-बड़ों के लिये शोक सभा न कर सके, तो भला, हमारे मज़ार पर क्या चिराग़ जलाने जायँगे ?

हमें बताइए, कौन है, जो हमारी लाश पर दो बूँद आँसू बरबाद करेगा, और कहेगा, "तुम्हें क्या हो गया ? बोलो, तुम्हें........" कौन है वह, जिसकी आँखें हमारी चिता के धधकते हुए शोलों की तरह लाल हो जायँगी, चिता की चिनगारियाँ जिसकी आँखों में लाल डोरे बनकर रह जायँगी ?

हम जानते हैं, इंसान अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही जाता है। वह उम्मीदें लेकर दुनिया में आता है, राशनकार्ड और चेकबुक लेकर नहीं। हमें यह भी मालूम है कि निराशा और बेबसी ज़िंदगी की छाया है। मगर साहब, ये फ़िल्सफ़ाना बातें तो हमें अब मालूम हुई हैं। अल्ला ताला जन्नत बख्शे मरहूम अब्बाजान को, जिनकी बदौलत ज़िंदगी का यह सतजुग भी देख लिया। जिनके रहमोकरम से फ़िक्र-फ़ाक़ों से अब तक बचे रहे।

अगर आप भी यह सतजुग देखना चाहते हैं, तो जरा अकेले में किसी से मशाकिया कर लीजिए। क्योंकि शुरू में हम भी इश्क़ और मुहब्बत को निहायत ही पाकीज़ा चीज़ समझ बैठे थे, मगर तजुर्बे ने बता दिया कि यह एक ऐसा अभिशाप है—भयंकर अभिशाप, जिसने ज़िंदगी में घुन का काम किया है। फिर भी आपको हक़ है, किए जायँ हसीनों की तारीफ़। हम तो भरे-भुगते बैठे हैं, इनके ज़ुल्मो-सितम को। इश्क़ का थर्मामीटर लेकर दर-दर की खाक छानी है। आप क्या जानें, कितनी जूतियाँ हमने घिस डालीं, और कितने डिज़ायनों की चप्पलें हमारे लिये काम आईं। अपने इन मासूम गुनाहों का खमियाज़ा आज भी उठा रहे हैं।

एक बिगड़े हुए रईस की तरह अपने वर्तमान और भविष्य पर सोचते रहते हैं। विगत को भूलने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। ड्रेसिंग-टेबिल छोड़कर ऐन होली के रोज़ क़लम-कुल्हाड़ा सँभाला है। खुद को भी सँभाल सकेंगे, इस पर यक़ीन नहीं होता। वजह यह कि, "उम्र तो सारी कटी इश्क़े-बुताँ में, अब आखिरी वक़्त में क्या खाक मुसलमाँ होंगे?"

जो भी हो, आज तो एक ही तमन्ना है, और वह यह कि किसी भक्की को अपनी दास्ताँ सुना डालें। हमारा खयाल है कि होली-बे के मूड में आप काफ़ी मददगार साबित हुए हैं। आयंदा भी आपकी मुहब्बत मिलती रही, तो यही पेशा अख्तियार कर लेंगे, क्योंकि प्यार के व्यापार में तो यार दिवाला ही निकला है। काश कि, चचा ग़ालिब के तजुर्बे से आप भी फ़ायदा उठा सकें, और मिला-भेंटी के चक्कर में कहीं रंग में न डूब जायँ।

हम और हमारे बदलू काका

बचपन गुज़रे एक ज़माना हुआ। मकतब की याद मिट चली और दिमाग़ से मुदर्रिसों के खाके भी। हमारे यार किसनू और नूरे अब दो-दो, चार-चार बच्चों के बाप हैं। राधा और सलीमा की माँगें भर गईं, और ख़ुदा के फ़ज़्लोकरम से गोदें भी। और हम अभी छड़ीदा घूमते हैं—जी हाँ, सिगल की तरह अकेले ठूँठ। यह बात नहीं कि हम कोई चिरकुमार हों। स्वयंवर रचाया ज़रूर था, मगर कमबख़्त तक़दीर की ऐसी-तैसी, हाथों की मेहँदी सूखने भी न पाई कि निकाह हमेशा के लिये मंसूख़ हो गया। चुनाँचे बीबी-बच्चों और नोन-तेल-लकड़ी के पचड़े में पड़ने से पहले ही जान छूट गई।

हम और हमारे बदलू काका

छोटी-सी जान अपनी—कबूतर-जैसी कह लीजिए। हर रोज़ न-जाने कहाँ-कहाँ फँसती है और न-जाने किस-किस से छुटकारा पाती है। गाँव से पिंड छूटा, तो शहर में आ फँसे। किसनू, नूरे, राधा और सलीमा के घरोंदों से जान बची, तो अनिल, सुनीता, नीरा और मियाँ बल्लन के 'हाउस ऑफ़ कार्ड्स' में उलझ गए। गाँव के स्वाँग और नौटंकी से मुक्ति मिली, तो सरकस—सिनेमा की भक्ति क़बूल कर ली। कोर्स बुक्स को बालाए ताक़ रक्खा, तो 'फिक्शन' सीने पर सवार हो गया। अम्मा-बप्पा की वक़्त-बेवक़्त की चेंचें-पेंपें से बचे, तो बदलू काका की देख-रेख में दम घुटने लगा।

हमें इन्हीं से ख़ास शिकायत भी है। क्योंकि यह अकेले हज़ार मुसीबतों से बढ़-चढ़कर हैं। बदलू साहब हमारे मास्टर, सर्वेंट, पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर, सभी कुछ हैं। अपने पेशे की रूह से मुलाज़िम हैं। अम्मा-बप्पा की अथारिटी से हमारे सरपरस्त, केयरटेकर और आक़ा मुस्तगीस। बलिहाज़ उम्र हमारे बुज़ुर्ग हैं; वफ़ादारी के नाते अज़दिल-अज़ीज़; संस्कारों से कंज़रवेटिव और ख़्यालात से सोशलिस्ट हैं। यों बायसे फ़ख़्र भी हैं और बेवक़ूफ़ी की जीती-जागती तस्वीर भी।

जनाब को कामरेड बदलू कह दिया जाय, तो समझते हैं, कोई बड़ी इज़्ज़त बख़्श दी गई। यक़ीन मानिए, डैम, ईडियट के ख़िताबात पाकर भी आप उतने ही ख़ुश होते हैं। गाँव से शहर क्या आ गए हैं, अपने को अफ़लातून समझने लगे हैं। पढ़े-लिखे हैं नहीं। मकतब-मदरसे का मुँह नहीं देखा, मगर अँगरेज़ी तालीम को जी-भर कोसते हैं। चाहते हैं, स्कूल-कॉलेजों में गीता-रामायण

का पाठ होने लगे, और छात्र-छात्राएँ सरकस-सिनेमा छोड़ सत्यनारायण की कथा सुना करें।

सिनेमा के नाम से आपको चिढ़ है। हुज़ूर का बस चले, तो शहर-भर के सिनेमा फुँकवा डालें। फ़िल्म स्टारों को फ़ुसा-फाँसी दिला दें। प्रोड्यूसर, डायरेक्टर और सेंसर से नावाक़िफ़ हैं, वरना इन्हें भी पानी पी-पीकर कोसना शुरू कर दें। आलम यह है कि सिनेमा के विज्ञापन देखते ही महाशयजी आपे से बाहर हो जाते हैं, और उन बेहूदा तस्वीरों के लिये जवाब तलब करते हैं हमसे। अब आपसे भी क्या छिपाएँ, दो-चार मर्तबा तो हमने ख़ुद, इन्हें सिनेमा के पोस्टर नोचते देखा है। ईश्वर जाने, किस लायक़ दोस्त ने इन्हें बता दिया कि हमारे 'आयडैंटिटी कार्ड' का ताल्लुक़ सिनेमा से है। बस, बदलू साहब तुनककर कलाबत्तू हो गए। कार्ड के टुकड़े लान में उड़ते नज़र आए और लीजिए, हम लायब्रेरी से भी गए।

आपकी एक ख़ूबी हो, तो अर्ज़ करें। एक दिन हमारे अलबम पर जनाब की नज़र पड़ गई, जिसके साफ़ मानी थे कि हमें चार-छः घंटे को फ़ुरसत मिल गई। हुआ भी यही। सब काम छोड़-छाड़के समझाइए जनाब को, "यहु किहिकै मूरति है, अउर यहु किहिकै ?" समझाया साहब। कविवर पंत का एक चित्र देखते ही ठिठक गए। बोले, "भइया, ई मेहरिया कउन हइ ?"

"मेहरिया !" मैंने हँसकर कहा, "यह बहुत बड़े कवि हैं।"

"कबि का ? हिंदी माँ बतावउ।"

"शायर। समझे ?" मैंने जवाब दिया।

"तब तौ बुरका पहिरे क चाही।" बदलू ने शंका उठाई।

"कैसे समझाऊँ, इस कूढ़मग़ज़ को ?" मैंने मन-ही-मन

सोचा, "शायर के मानी समझता है मुसलमान ! पंतजी को समझ बैठा है स्त्री !"

"काका, तुम भी हो निरे बदलू !" मैंने कहा—"यह हैं बाबू सुमित्रानंदन पंत । नामी भजनियाँ हैं हमारे देस के ।"

बदलू ने भेजा हिलाकर स्वीकृति दी, किंतु वह अपनी सहज प्रतिक्रिया व्यक्त किए बिना न रह सका । बोला—"भुला मूँछ तो मनई का रक्खै क चाही ।" और खड़ा कर दिया मूँछों का झमेला ।

"यहु तो बतावउ काका", मैंने दूसरा ढंग अपनाते हुए प्रश्न किया, "कबहूँ राम-लछिमन कै मूरति देखे हौ ?"

"वाह भइया । चारों धाम पूजिन हैं । दुनिया-संसार देखि लिहन, अउर पूछत हौ राम-लछिमन कै बात ।" बदलू ने फ़ख्र से कहा ।

"राम-लछिमन, कन्हैया किहूकै मूँछैं देख्यो हौ ?" मैंने प्रश्न किया ।

"उनकै कहा बात ! भगवान हइन ।"

आखिर मुझे हार मानकर कहना पड़ा, "अच्छा काका, इसे फिर देखना । ज़रा बाज़ार से एक पैकिट ऐस्प्रो ले आओ । मेरा सिर दुख रहा है ।" बड़े अनमने होकर हज़रत ने अलबम रख दिया, और चले, जैसे सजीवन बूटी लेने जा रहे हों ।

बदलू काका का यह भोलापन हँसाता भी है, रुलाता भी है । सख्त-सुस्त कहते नहीं बनता । आखिर उन्हीं के हाथों खेले हैं । लोग समझते हैं, हमने इन महामहिम को लिफ़्ट दे-देकर सिर चढ़ा रक्खा है । बदलू बाबू अनजाने ही शायद समझते हैं कि वह हमारे स्वीट-हार्ट हैं । मगर हक़ीक़त यह है कि बदलू [illegible] नहीं हमारे लिये

सामाने-तफ़रीह हैं, वहीं भयंकर सिर-दर्द भी हैं। मगर असल परेशानी तो तब होती है, जब बड़े मियाँ छिप-छिपकर हम पर शाक्टर की नज़र रखते हैं।

अव्वल तो हम खुद ही शकल-सूरत से ऐसे फटीचर और पढ़ने-लिखने में ऐसे बुद्धू नफ़र हैं कि कोई चुड़ैल सहपाठिन बात नहीं करती, नोट्स एक्सचेंज करना तो दूर रहा। और, मान लीजिए, कभी-कभार कोई भूली-भटकी हमारे शिकारपुर हाउस में चली भी आए, तो पहले बदलू साहब के बेतुके सवालों के जवाब दे-देकर परेशान हो। अगर खुशक़िस्मती से उस ग़रीब को हमसे मिलने की इजाज़त मिल भी गई, तो वह बेचारी जब तक हमारे स्टडी-रूम में रहेगी, मजाल है, बदलू साहब घड़ी-भर को कहीं इधर-उधर हों।

कॉलेज से लौटने में देर हो जाय, तो बदलू साहब जवाब तलब करते हैं। चिराग़ जले के बाद घूमने निकलें, तो पाँच हाथ का लट्ठ बाँधकर बाडीगार्ड की तरह पीछे लग लेते हैं। लाख कहें, काका, कहाँ परेशान होंगे ? मगर वाह रे काका ! मजाल है, अपने उसूल से रत्ती-भर टस से मस हो जायँ। इतनी ही बात हो, तो चलिए ग़नीमत समझें। रोना तो यह है कि मिस्टर बदलू पाँच मिनट खामोश नहीं चल सकते। हर मिलनेवाले या वाली की तफ़सील बयान कीजिए। जिस घर, दूकान या रेस्तराँ में घुसिए, पहले इन्हें बतला दीजिए, 'किहि कारन जाइत हौ !" यही नज़र-बंदी की पाबंदियें हमें खल जाती हैं। मगर क्या करें, मजबूर हैं।

मजबूर इसलिये कि बदलूजी हमारे इमीजिएट आफ़िसर हैं। खुद निरक्षर भट्टाचार्य ज़रूर हैं, मगर घर को हर तीसरे रोज़ आप

खत लिखाते हैं। हमसे नहीं। क्योंकि खत के तिहाई हिस्से में होती है उनकी सिद्ध श्रीपत्री अत्र कुशलं तत्रास्तु। तिहाई में बच्चों को प्यार, बहूजी और बड़े ठाकुर को चरन छूना, ननकू पंडित का पायँलागी, पटवारी लाला को राम-राम और सारे गाँव को कुछ-न-कुछ। बाकी तिहाई में हमारी डे-टु-डे रिपोर्ट जाती है—पूरी तफ़सील के साथ। यों ले-देकर हमारी हालत किसी हिस्ट्रीशीटर से ज़्यादा अच्छी नहीं, क्योंकि हमारा जेब-खर्च भी तो बदलू सलामत की रिपोर्ट पर डिपेंड करता है।

बदलू-जैसे 'बौस' ने हमारी नाक में दम कर रक्खा है। जी हाँ, नकेल डाल रक्खी है। अच्छे हुए हम शिकारपुर के कुँवर साहब! पतलून का पहनावा इन्हें पसंद नहीं। पाजामा पहनकर पिलपिली साहब बने घूमना हमें नागवार। धोती बाँधने की तमीज़ नहीं—सड़क चलते खुल पड़े, तो और हँसी हो। अब करें, तो क्या करें? जूते का मामला भी कम संगीन नहीं है। बक़ौल बदलू, नाग्रा टिकाऊ नहीं होता। चप्पल और सैंडिल ठहरी ज़नानी चीज़। बूट जूते में हत्या होती है। रह गया तो बदलू का पेट—चमरपुरे का चमरौधा! उसे हम पहनने से रहे। बदलू चाहे लाख सिर पटकें।

पोशाक की यह हुज्जत कोई नई नहीं है। पिछले जाड़ों में आपने आव देखा न ताव, सिला लाए हमारे लिये रुई की बंडी, कबीरपंथी कंटोप और छींटदार दुसूती का दोहरा पाजामा। देखते ही आँखें कुढ़ गईं। भला, आप ही बताइए, हमें कार्टून बनाने में इन्होंने अपनी तरफ़ से क्या कसर बाक़ी रक्खी थी। कैसे समझाएँ कि आपका यह मनपसंद सूट पहनकर कॉलेज नहीं जा सकते। मगर नहीं, बदलू साहब की अड़ ठहरी! हम भी अड़ गए। मामला

बर को रेफ़र कर दिया गया। फ़ैसले के इंतज़ार में सदियाँ कट गईं। और चलिए, ख़ुदा का लाख-लाख शुक्र, इस साल जान बची; अगले साल के लिये ख़ुदा हाफ़िज़।

तो जनाब यह हैं हमारे बदलू काका। मुहल्ले-भर के मुखिया बने फिरते हैं। शहर में कहीं कथा-कीर्तन हो, भला बदलू से छूट जाय। और किसी पब्लिक मीटिंग में हो आए तो, क्या कहने। चार-छः रोज़ इनके लेक्चर सुनते रहिए। अव्वल तो, आप समझिए, इन बाज़ारू तक़रीरों में सिवाय लफ़्फ़ाज़ी के कुछ होता नहीं; और अगर कुछ हुआ भी, तो बदलू काका के भेजे में पहुँचते-पहुँचते सेकिंडहैंड हो लेता है। और उसका करते हैं आप भाष्य। एक-एक लफ़्ज़ का मतलब समझाएँगे। कमेंट्स देंगे। समझते हैं, इनके सिवा सभी बखखुदहे हैं। जब पूछिए, मीटिंग में थे कितने लोग? "यही हुइ हैं चालीस।" आप बड़े इतमीनान से कहते हैं, चाहे चालीस हज़ार की भीड़ ही क्यों न हो। असल बात यह है कि जनाब को चालीस से ऊपर गिनती आती ही नहीं।

अब तो ख़ैर, उन्हें काफ़ी अक़ल आ गई है। गाँव से पहले-पहल जब आप शहर आए, तो महीने-दो महीने हमें दिमाग़ी तौर पर ख़ासी कसरत करनी पड़ गई। दसियों दफ़ा जनाब की बदौलत शर्मिंदगी उठानी पड़ी। मगर करते क्या, बदलू ठहरे पिताजी की नाक के बाल, उनके विश्वास-पात्र नुमाइंदे। लिहाज़ा हमने भी उन्हें शिकारपुर-स्टेट का एंबेसेडर तसव्वुर कर लिया।

जिस दिन आप आए, उस दिन था इतवार। कमरा बंद किए हम बहनों के प्रोग्राम से प्रसारित एक रेडियो-रूपक सुन रहे थे। किसी ने दरवाज़ा खड़खड़ाया। रेडियो बंद करके किवाड़

खोलते ही बदलू काका पर नज़र पड़ी। ग़ुस्से से तमतमाते हुए बोले"—"अउर कउन है तुहार कुठरिया माँ ?"

"कोई नहीं काका। क्यों ?" मैंने पूछा।

"झूठ बोलित सरम नहिं आवत ? बदलू का मूरिख चीन्हत हौ ?" बदलूजी बड़बड़ाए।

"आखिर कोई बात भी हो !" मैंने ताज्जुब से कहा।

"ई छोकरी हइ कउन ?"

"कौन छोकरी ? साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते।" मैं बिगड़ उठा।

"यहै जउन जोर-जोर बलराइत रही। हम सब सुनि लिहिन है। जाने रहा.... ।" बदलू ने धमकाते हुए कहा।

"अब समझा ?" मैंने कहा, "रेडियो है।"

"राम-राम रंडिया !" बदलू ग़ुस्से से काँप उठा, "तुहार यहु जजाल ?" उसने कहा।

"अरे काका, मैं कह रहा हूँ, रे डी ओ।"

"अँगरेजी न छाँटो।" बदलू ने तमककर कहा—"जउन बात होइ, साफ-साफ कहौ। दाई से पेट न छिपी।"

बदलू साहब को आकर रेडियो दिखाया। मगर उन्हें यक़ीन कहाँ। स्विच ऑन किया। रेडियो गरमाया और कार्यक्रम पुनः शुरू हो गया। बदलू काका की आँखें और मुँह आश्चर्य से फैल गए। किंतु उनका संदेह पूरे तौर से न मिटा। क्षण-भर मुझे सर से पैर तक देखा। कमरे में इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। घूमकर रेडियो के पीछे, पलँग के नीचे, सब कहीं नज़र डाली। फिर झेंप-सी मिटाते हुए बोले—

"यहि म किहिका बोल सुनात है ?"

"आकासबानी है काका।" मैंने उत्तर दिया।

"कलजुग माँ आकासबानी ?" बदलू की पौराणिकता उबल पड़ी।

"यहौ फोनोगिलाफ कै एक जाति है," मैंने सफ़ाई दी।

"तवा का भवा ?" बदलू ने ताज्जुब से कहा।

उनके सवालों से तंग आकर मुझे कहना पड़ा, "धीरे-धीरे सब समझ जाओगे काका। मनई का उतावली न करै क चाही।" बदलू साहब जैसे-तैसे टले। शाम को उन्हें खास तौर पर देहाती प्रोग्राम सुनने के लिये इनवाइट किया गया। सुनते ही बदलू साहब की तबियत ख़ुश हो गई। ख़ुशी से पागल हुए जा रहे थे। प्रोग्राम-समाप्ति की घोषणा हुई, और बदलू साहब ने इकतरफ़ा फ़रमायश की, "पंचो, एक भजन अउर हुइ जई।" अब उन्हें ऐसा चस्का पड़ा है कि बिना रेडियो सुने खाना हज़म नहीं होता। अच्छी-से-अच्छी वार्ताएँ हमें उनके कारण मिस करनी पड़ती हैं।

राम-राम करके पहला दिन गुज़रा। रात हुई, और बदलू काका ने भंडारखाने में बिस्तर जमाया। साढ़े दस के आस-पास टेलीफ़ोन की घंटी खनखनाई, और बदलू सलामत चीखते-चिल्लाते भंडारखाने से निकल भागे। अपना स्टडी-मूड हिरन हो गया। पूछने पर मालूम हुआ कि बंदापरवर टेलीफ़ोन की घंटी से घबरा गए थे। आखिर उन्हें टेलीफ़ोन का वर्किंग समझाने की कोशिश की। मगर वह ठहरे भारतीय आत्मा श्री बदलू। हारकर मामला कल के लिये टाल दिया।

वक़्त की बात देखिए, कुछ ही देर बाद घंटी पुनः खनखना

उठी। काका ने रिसीवर उठाया। "बुलाइत हन", कहकर वह आ धमके हमें बुलाने। गए साहब। जाकर देखा, तो रिसीवर टेलीफ़ोन पर रक्खा मिला। पूछा, "किसने रिंग किया था? किस नंबर से किया था?" जवाब नदारत। पूछा होता, तो बताते। ख़ैर, फ़ोन के बारे में दो-चार बातें बताकर हम उनकी कुशाग्र बुद्धि पर हँसते-हँसाते कमरे में लौट आए।

धीरे-धीरे कई हफ़्ते गुज़र गए। तब एक और भी दिलचस्प वाक़या गुज़रा। उस दिन थी कोई छुट्टी। धरती पर पल्थी जमाए प्रोफ़ेसर बदलू हिंदी के किसी अख़बार की सुर्खियाँ बाँधने में अकारण भेजा खरोंच रहे थे। टेलीफ़ोन की घंटी बराबर बजे जा रही थी। मगर बदलू बाबू तो अपने ही रंग में मस्त थे।

"कानों में तेल डालकर बैठे हो क्या?" मैंने झुँझलाकर कहा—"सुनते नहीं, घंटी कब से बज रही है?" बदलू चले, जैसे फाँसीघर जा रहे हों।

घंटी बंद हुई, और बदलू साहब के चिर-परिचित शब्द, "हलो, हलो हम बदलू बोलित हन।" सुनाई पड़े।

क्षण-भर की ख़ामोशी के बाद बदलू की दहाड़ सुनाई पड़ी, "सरऊ, हम तुहार जुआन खींचि लेई।"

मैंने पूछा, "क्या हुआ काका?"

"कहा बताई भइया! ऊ कहन फोर टुअंटी।" मिस्टर बदलू ने रोनी सूरत बनाते हुए सफ़ाई दी, "भला देखो न, सार दिन माँ टिरंक-इरंक पूछित हइ।"

"अच्छा, फ़ोन इधर लाओ।" मैंने हुकुमराना ढंग से कहा, बात ख़तम हुई। दिल्ली से काल थी। बदलू साहब की देहाती अक़्ल

के लिए मुझे माफ़ी माँगनी पड़ी। पूरे सवा घंटे मग़ज़खोरी करने पर भी बदलू साहब को 'ट्रंक काल्स का सिस्टम' नहीं समझा सका। अलबत्ता, यह वह ज़रूर समझ गए कि अपनी कोठी यानी शिकारपुर हाउस का टेलीफ़ोन-नंबर ही, बाई चांस 'फ़ोर टू ज़ीरो' है।

तो जनाब, यह हैं आपकी अक़्लमंदी के चंद नमूने। अजीबो-ग़रीब शौक़ हैं आपके। सुरती के बिना चैन नहीं पड़ता। दो ढोली चबा जाते हैं पान। चंदन पोते बिना आपके दिमाग़ से ख़ुश्की नहीं निकलती। जनवरी-फ़रवरी की सर्दियों में भी छः मील चलकर गंगा नहाने जायँगे। 'कोरियों' के झगड़े से आपको ख़ास परेशानी है। गाँव के मापदंडों से नापते हैं शहर। बुड्ढी आँखों से देखते हैं ज़माने की नई रोशनी, नई रफ़्तार। यह सब होते हुए भी बदलू हमारे काका हैं और हम बदलू के 'भइया'। वह हमसे और हम उनसे बेहद परेशान हैं, फिर भी हम दोनो एक दूसरे को दिलो-जान से ज़्यादा अज़ीज़ समझते हैं।

लीडर

"बिना क्रीज़ की पतलून"—आप कहेंगे, बेरौनक़। "बिना मसाले की दाल"—आप कहेंगे, बेलज़्ज़त। "बग़ैर तल्ले का जूता"—आप झींकते हुए कहेंगे, बिलकुल बेकार। ज़रा यह भी बताइए, "बिना लीडर के जश्ने-जम्हूरियत?" लीडर लफ़्ज़ से चौंकिए नहीं, यह तो हमारे एक लँगोटिया यार का इस्म, नहीं-नहीं तख़ल्लुस है। वह बेचारा एक ऐसा सामाजिक जंतु है, जिसका मज़हब से कोई सरोकार नहीं। ईमान और ईमानदारी को जो तलाक़ दे चुका है। असली ज़िन्दगी से उसूलों का कफ़न-दफ़न कर चुका है। स्वभाव से ही जो बेपेंदी का लोटा है; जिसे हम और आप और नाशुक्री जनता

मन-ही-मन सामाजिक कोढ़ में खाज का अवतार मान बैठे हैं। बोलचाल की भाषा में इस मनहूस प्राणी को कोई-कोई नेताजी कहकर चिढ़ाते हैं। और, कुछ तो ऐसे भी गुस्ताख़ हैं, जो ग़रीब को गिरगिट कहते हुए भी नहीं झिझकते।

अब आप समझ गए होंगे कि लीडर से हमारी मुराद किसी काली, पीली, सफ़ेद या लाल टोपीवाले बहुरूपिए से नहीं, बल्कि अपनी नाचीज़ राय में हर वह शख़्स, जिसे क़ानून शरकश या गिरोहबंद क़रार दे सकता है, लीडर कहलाने का हक़दार है। लीडर का खिताब पाने के लिये ज़बान में क़ैंची की तेज़ी और लफ़्फ़ाज़ी में कुछ वैसा ही जादू लाज़िम है, जैसा कि सड़क किनारे के किसी दवाफ़रोश के दावों में। दिमाग़ में फ़ितूर और पैर में चक्कर हुए बिना नेता पद की प्राप्ति नामुमकिन है। तो ख़ैर, अपने जिन दोस्त लीडर का ज़िक्र हमने शुरू किया है, वह अपनी सोहबत की वजह से सर्वगुण-संपन्न हैं। हम उन्हीं को सही मानियों में लीडर इक़बाल करते हैं, इसलिये कि भारतीय दंड-विधान की चार सौ बीसवीं धारा दिन-रात उनकी खोपड़ी में चक्कर काटती रहती है।

इन महाशय से मुलाक़ात के चक्कर में हम पर जो गुज़र चुकी है, पहले वही अर्ज़ किए देते हैं : यों देखने को आगरा, बरेली और राँची के पागलखाने हम दसियों बार देख चुके थे, मगर राजधानी का एक नज़ारा देखकर हम ख़ुद पागल हो गए। आपसे भी क्या छिपाएँ, उस वक़्त हमारे होशोहवास दुरुस्त न थे। एक आलीशान इमारत के सामने ज़बर्दस्त मजमा देखा, तो रुक गए। भीड़ को चीरते, धक्के खाते हम भी जा धमके मौक़े पर। जादूगरी और तमाशबीनी के पुराने शौक़ीन जो ठहरे।

सोचा था, कोई गंडे-तावीज़वाला होगा या फिर आदमी को मर्द बना देनेवाला दवाफ़रोश; मगर तबियत न मानी। यहाँ हक़ीक़त ही कुछ और थी। एक साहब हाथ में झंडा लिए स्टेच्यू बने खड़े थे, दूसरे खूसट धकाधक कैप्सटन धौंक रहे थे, तीसरे महाशय लाउडस्पीकर पर इंजीनियरी के हाथ दिखा रहे थे, और इनके सरग़ना कामरेड जलेतन का भाषण फ्रंटियर मेल की गति से चल रहा था। इस चांडाल-चौकड़ी के इर्द-गिर्द एक हुज्जूम था, जो रह रहकर ज़िंदाबाद, मुर्दाबाद चिल्ला उठता था। मगर ये हथकंडे हमारे लिये नए न थे। हाँ, वह इमारत ज़रूर नई थी, जिसकी याद भी अभी बासी नहीं हुई।

इस भूलभुलैया में पहुँचे, तो होश फ़ाख़ता हो गए। लाल-लाल पगड़ी लपेटे दरवाज़ों पर जमदूत नज़र आए। टाट-जैसे मोटे कपड़े के कुर्ते, पाजामे और सर पर सफ़ेद रंग की उल्टी नावें रक्खे हुए दो-चार कुंभकरन गश्त करते दिखाई पड़े। फुल मेक-अप में एक-दो सूपनखा सिस्टर्स का भी दीदार हुआ। ऊपर की मंज़िल में पहुँचते-पहुँचते दर्शक-गैलरी का साइनबोर्ड देखा, तो अरीते हुए धँस पड़े। यहाँ का दृश्य न पूछिए, [illegible] हालत थी। [illegible] हाल की दीवारों से नहूसत बरस रही थी, [illegible] [illegible]-[illegible]कर चुप हो जाती थी।

एक साहब गला फाड़-फाड़कर न-जाने क्या बक रहे थे। मुँह से थूक की फुहार उड़ रही थी। चिल्लाते-चिल्लाते थककर ज्यों ही वह गिरे, एक दूसरे पर यही भूत सवार हुआ। इनकी न पूछिए, खुद ज़मीन पर उछल रहे थे और बँधी हुई मुट्ठियाँ हवा में। भाई का गुस्सा अभी ठंडा भी न हो पाया था कि इनके भाई-

निरादर एकाएकी चिल्ल-पों मचाने लगे। पुलिस के सिपाही हस्बमामूल हंगामे का मज़ा ले रहे थे—दूर दरवाज़ों पर खड़े-खड़े। इसी बीच एक और महाशय को, जो अब तक एक ऊँची-सी कुरसी पर एक तरफ़ बैठे-बैठे ऊँघ रहे थे, न-जाने क्या सनक सवार हुई कि पास पड़ी गदा उठाकर लगे मेज़ पीटने। मेज़ तो खैर बच गई, मगर बलवाई इधर मुखातिब होकर गाली-गलौज भूल गए। अभी तक अमन के हालात पैदा भी न हुए थे कि एक भारी-भरकम शरीर-वाले, बिना सूँड़ के गनेश खड़े होकर गरजने लगे।

यार लोग अपने-अपने मज़े में मस्त थे। कुछ बड़ी भलमन-साहत से दो-दो-चार की टोलियों में मंत्रणा और फुसफुस कर रहे थे। कुछ किताबों के पन्ने लौट रहे थे, कुछ एक ऐसे भी थे, जो जम्हाइयाँ ले-लेकर वक़्त गुज़ार रहे थे। इनमें हर उम्र, हर तबक़े और हर नसल के लोग नज़र आते थे—तुँदियल सेठ, तनी मूँछवाले ज़मींदार, पैंशनयाफ़्ता तहसीलदार, सौकिया पहलवान, घुटे सरवाले सनातनी और जेल से भागे हुए क़ैदी। न-जाने कैसे चार-छ भले-घरानों की प्रौढ़ाएँ भी इनमें आ फँसी थीं।

और हम बेहद परेशान थे, क्योंकि पागलखाने का इस क़दर माकूल इंतज़ाम, इस क़िस्म के पागल और वह भी एक साथ, हमें आगरा, बरेली, कहीं भी देखने को नहीं मिले थे। हमसे न रहा गया, तो पास बैठे एक सज्जन से अपनी हैरानी ज़ाहिर कर बैठे। महाशय-जी बिगड़कर बोले, आपका दिमाग़ तो दुरुस्त है? इस प्रश्न से हम और भी हैरान हो गए। आप ही बताइए, क्या भलमनसाहत का यही तक़ाज़ा है। एक पढ़े-लिखे आदमी से इस क़दर बेहूदा जवाब सुनकर हमें भी ताव आ गया। कहा-सुनी इस हद तक बढ़ी कि

हाथा-पाई पर नौबत आ गई। बदबख़्त पुलिसवाले आ पहुँचे। इस तमाशबीनी और ख़ामख़्याली में जो दुर्गत बनी, वह तो न बताएँगे। पर इतना ज़रूर कह दें कि बहुत बेआबरू होकर आख़िर में हम यह समझ सके कि यह पागलख़ाना नहीं, राज्य की विधान-सभा है।

काश कि सभी लोग गधेवाले बक्से में अपना वोट डाल देते, या फिर हमारे दोस्त लीडर को भी बैलट-बक्स का जादू आता, तो वह भी यहाँ के एक सम्मानित सदस्य होते। हंगामा मचाते, अपने हथकंडों के बल-बूते बेफ़िकरी से पेंशन पाते और छोटे-मोटे लीडर की बजाय, बड़े भारी सयासी गामा होते।

सयासी गामा या राजनीति-पीड़ित इसलिये कि जुरम शब्द की तरह नेता भी एक बहुत ही व्यापक लफ़्ज़ है, जिसके दायरे में ज़िंदगी और समाज के हरफ़न-मौला बिखरे पड़े हैं। इन जंतुओं में वे सभी तिकड़मबाज़ शामिल हैं, जो अपना उल्लू सीधा करने के लिये एक-न-एक पार्टी, मजलिस, लीग, सभा, संघ अपनी जेब में रक्खे, बगुला-भगत बने फिरते हैं। लिंग और वचन-क्रिया के बंधनों से मुक्त अभिनेता और सभानेत्रियाँ ही नहीं, चोर-बाज़ार के मशहूरो-मारूफ़ ताजिर, धर्म के ठेकेदार, राजनीति के खटमल, सभी अपने-अपने अखाड़ों के नेता हैं। हमारे दोस्त लीडर की सरगर्मियाँ तो सिर्फ़ सयासत तक ही महदूद हैं।

सामाजिक पशुओं की किसी भी सभा, जमाव, जमघट, भीड़, गोष्ठी, बैठक, सोसायटी या इजलास में लीडर बाबू को बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है। वेश-भूषा से मुकम्मल कार्टून हैं। बोलचाल के लहजे और भूँकने का स्टायल देखकर उन्हें जान लेना भी कठिन नहीं है। घनी बस्ती और आबादी से दूर, श्मशान

में सूखे पीपल पर बैठनेवाले गिद्ध की तरह वह भी हमेशा उच्च आसन पर जा धमकने की ताक में रहते हैं। फिर अपनी ललचाई गिद्ध-दृष्टि से शिकार ढूँढ़ना उनका जन्म सिद्ध अधिकार है।

वह हाथ-भर की चोटी रखा लें, चाहे डेढ़ हाथ की दाढ़ी, या फिर क्लीनशेव सेकूलरिस्ट ही क्यों न हो जायँ, लीडर बाबू सही मानियों में लीडर हैं। यह बात दूसरी है कि कभी वह सांस्कृतिक पुनरुत्थान का दम भरने लगते हैं, कभी पानी पी-पीकर फ़िरक़ा-परस्ती को कोसने लगते हैं। गोशाला से लेकर विधवा-आश्रम की मैनेजरी तक के चुनाव हारते-जीतते रहते हैं। कभी फटेहाल कामरेड हो जाते हैं, और कभी खादी की खाल ओढ़कर भेड़ के वेष में भेड़िया। तुलसी बाबा ने "उदर-निमित्त कृत बहुविधि वेशा" कह कर उन्हें गिरगिट की तरह रंग बदलने की आज़ादी दे दी है। और इसी में उनका माज़ी, हाल और मुस्तक़बिल छिपा हुआ है।

उनकी ज़िंदगी को जितने क़रीब से देखा और समझा जाय, उतने ही नए-नए राज़ सामने आते हैं, और इस बात का साफ़ पता चलता है कि दुनियाबी मामलात में वह चार्वाक से भी दो जूते आगे रहना चाहते हैं। यानी हज़रते चार्वाक यदि "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" के हिमायती हैं, तो हमारे लीडर मित्र बिना ऋण लिए ही घी पीने का इरादा रखते हैं। पर बदनसीबी उनका साथ नहीं छोड़ती। इसीलिये जब और नेताओं की बीसों घी में होती हैं, वह तमन्नाओं से दिल बहलाकर जीते हैं।

हक़ीक़त यह है कि यह प्राणी दीमक से ज़्यादा मेहनती, ठगों से ज़्यादा चतुर, लुटेरे से अधिक साहसी और गिरहकट से भी ज़्यादा अपने फ़न का माहिर है। इस क़दर दिलेर कि अपने पेशे में

कामयाबी हासिल करने के लिये अपनी तो अपनी, दोस्तों की भी ज़र, ज़मीन, जोरू और आबरू दाँव पर लगा दे। उसे तो आठों पहर एक ही धुन सवार रहती है—एक ज़बर्दस्त चिंता—ख़िदमते-ख़ल्क की चिंता—देश-सेवा की चिंता। इसी में घुल-घुल वह हाथी होता रहता है। इसी के लिये 'हाई लिविंग और सिंपिल थिंकिंग' का सिद्धांत अमल में लाता है।

जनता और देश के लिये वह भाषण देता है। लाउडस्पीकर पर ज़ोर आज़माता है। धुआँधार वक्तव्य देता है। आसमान में बाहें उछालता है, और ज़मीन पर पैर पटककर खुली चुनौतियाँ फेंकता है। यह उसके वश में नहीं कि कोई उसकी बात सुने-ही-सुने, सुनकर पल्ला न झाड़े या मीटिंग के बीच में उठकर न जाय। ज़ाहिरा तौर पर उसे इसकी परवाह भी नहीं, मगर अपनी लेक्चर-बाज़ी सुनाए बिना उसे चैन कहाँ? मजबूरन् अख़बारों में बयान देता है, प्रेस-कॉन्फ्रेंस के उपाय सोचता है; संपादक से यारी गाँठने की जुगत भिड़ाता है। अख़बार की सुर्खियों में अपना नाम देखने के लिये वह बबूल बोने से लेकर शरमदान तक के फ़ोटो खिंचाता है। ख़ानाबदोश होकर गाँव-गाँव मारा फिरता है, ताकि अवाम को उसकी बेचैनी का अंदाज़ हो सके। जनता के लिये वह जीता है, देश-हित मरने का दावा करता है, और इसलिये, "चुँगता है डिनर हुक्काम के साथ, शमे-क़ौम बहुत लीडर को, मगर आराम के साथ।"

बक़ौले शायर, "बड़ी मुश्किल से होता है चमन में मोतिया पैदा।" मगर जनाबमन, इस बाढ़ और बेरोज़गारी के आलम में लीडर की पैदाइश पंचसाला योजना से कम अहमियत नहीं रखती। आनेवाले ज़माने में उसी को तो निकाह, मुंडन और श्राद्ध का

रस्मी उद्‌घाटन करना होगा। तालीमो-तमद्दुन के नुक़्तेनज़र से सिफ़र होते हुए भी लीडर महाशय हर मामले में अपना दख़ल रखते हैं। बीमा से लेकर बर्थ-कंट्रोल तक पर घंटों लेक्चर दे सकते हैं। बरसाती नाले की तरह संकोच और झिझक के सारे बाँध तोड़ती हुई जब लीडर बाबू की तक़रीर चल पड़ती है, तो मालूम होता है, मानो चतुर गड़रिया भेड़ों को क्रांति और अहिंसा के उसूल समझा रहा हो।

यह सही है कि उसके भाषण का उसकी अमली ज़िंदगी से कोई ताल्लुक़ नहीं। मसलन् वह बात करता है लोक-कल्याण की, सोचता है अपनी। सादगी के उपदेश देता है, मगर बिना कार के दो क़दम चलते हुए भी उसका दिल दुखता है। शहंशाहियत के ख़िलाफ़ आग उगलता है, मगर ख़ुद चुंगी की मेंबरी तक के लिये जान तोड़ने को तैयार रहता है; बात करता है पूँजीवाद के ख़िलाफ़, मगर ख़ुद दुनिया की जेब तराशने के चक्कर में रहता है। फ़िरक़े-परस्ती के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ता है, मगर ख़ुद पार्टियों की शक्ल में फ़िरक़े और संप्रदाय बनाता फिरता है। यह सब मुनासिब भी है, आख़िर उसके लेक्चर अपने लिये तो होते नहीं! फिर लीडर बाबू शौक़े-लीडरी में मुब्तिला हैं, जहाँ नैतिकता नाम की कोई चीज़ ही नहीं, जहाँ जा-बेजा सब जायज़ है। भाई ने वह शौक़ किया है, जिसकी क़ीमत निकम्मे, निठल्ले और आवारा लोग ही बाआसानी अदा कर सकते हैं।

हमारे इन लायक़ दोस्त से मिलकर आपकी तबियत हरी हो जायगी। लाख कोशिश करने पर भी उनसे पिंड छुड़ाना दुश्वार हो जायगा। एक बार उँगली पकड़कर वह गर्दन दबोचने के आद

जब तक आपको भी अपने रंग में न रँग लेंगे, तब तक उनका कलेजा ठंडा न होगा। दुहने की कला में भी माहिर हैं। बेचारे मजबूर हैं, चंदे के पैसों से काम नहीं चलता, कोई भकुआ थैली भेंट करने का नाम नहीं लेता, और फिर उधार के बाज़ार में क्रेडिट खराब है। और तो और, उनकी पार्टी में सौ फ़ीसदी खाऊ लोग पड़े हैं, उनसे बचे, तब न कुछ हाथ आए। अब आप ही बताइए, दलाली न करें, तो खायँ क्या—गालियाँ? क़समें? इनसे भी तो पेट नहीं भरता। माना कि जेल में उन्हें नोन, तेल, लकड़ी की चिंता नहीं। मगर बाहर, फोकट की रोटियों के अलावा चारा भी क्या धरा है। ख़ैर, छोड़िए ये पर्सनल मामले हैं। हमें तो यार की यारी से काम, उसके फ़ेलों से क्या वास्ता।

यक़ीन कीजिए, हम तो उनकी पर्सनैल्टी पर फ़िदा हैं। लीडर भाई की भोंडी शकल और चेहरे-मोहरे की बनावट से लगता है, मानो अल्लामियाँ ने उन्हें गढ़कर कोई बेगार टाली हो। चुसे हुए आम-जैसा चेहरा, उल्टे नगाड़े-जैसा पेट और चींटे-जैसी टाँगें देखकर आपको भी पूँछ का अभाव बुरी तरह खटकने लगेगा। शुतुर्मुर्ग-जैसी गर्दन पर झूलते हुए अयालों से शायद उन्होंने यही कमी पूरी की है। भाई जान ने जिन्ना-कैप और चूड़ीदार पाजामे से लेकर अचकन और धोती तक के दर्जनों सेट न-मालूम कहाँ से मारे हैं! आज के दिन उनकी खोपड़ी पर क़लफ़दार गांधी-टोपी, नवाबी-पतन की अंतिम यादगार चूड़ीदार पाजामा और ढीली-ढाली शेरवानी सुशोभित हो रही होगी। खास-खास मौक़ों पर जब वह कार्टून बनकर निकलते हैं, तो सड़क-चलते लोग उनकी शाहाना चाल को देखकर कह उठते हैं—"जय हिंद नेताजी!"

बीबी के लेक्चर

जहाँ तक हमें याद है, हमने उन्हें कभी अकेला नहीं देखा। मुसाहिबत का उन्हें बेहद शौक़ है, मगर औक़ात से मजबूर हैं। फिर भी एक-न-एक चंडूल—परमिट, लैसंस, टिकट या सिफ़ारिश की लालसा से आ ही फँसता है। इन मूजियों से पान, सिगरेट, चाय और रिक्शे का ख़र्चा ही निकलता है, यही बहुत है। ये न भी हों, तो चंदे की रसीद-बुक, अँगरेज़ी के एक-दो पुराने-धुराने अख़बार तो उनके जीवन-साथी हैं ही।

इन्हीं को लेकर वह सरकारी द.फ्तरों के चक्कर काटते हैं। छोटे-मोटे अफ़सरों पर रोब डालते हैं। बिला टिकट सफ़र करते हैं। राजनीति उनका पेशा है, जिसे न-जाने क्यों डॉक्टर जॉनसन ने गुंडों का धंधा कहकर अपनी ख़ामख्याली ज़ाहिर की है। शहर के लोग मन-ही-मन लीडर बाबू को झूठों का बादशाह और मक्कार-शिरोमणि समझते हैं, पर वह हैं कि सुनते किसी की नहीं और न कुछ देखते हैं अपने दामन पर। हाँ, बोलने के मर्ज़ से पीड़ित अवश्य हैं। झूठ भी बोलते हैं, मगर बेमतलब नहीं; चकमा देते हैं, मगर मजबूरी में; संघर्ष करते हैं, किंतु रोटी-रोज़ी और सत्ता के लिये। इसी तरह लेक्चर पिलाने का भी एक मक़सद है, खादी-धारण भी एक मसलहत है।

इन्हीं कारगुज़ारियों के कारण उन्हें दम लेने की फ़ुरसत नहीं रहती। सुबह से शाम तक डिनर, ऐटहोम और मजलिसों में बुलाए-बिना बुलाए जाना ही पड़ता है। मना किसे-किसे करें, मिनिस्टर साहब को उनसे मिले बिना चैन नहीं पड़ता। जैसा कि उनका कहना है, मजिस्ट्रेट साहब के इसरार पर घंटे-दो घंटे निकालना ज़रूरी हो जाता है। ज़िला-जज को बचपन का दोस्त बताते हैं, पुलिस-कप्तान

उनके क़रीबी रिश्तेदार हैं, यानी साढ़ू के साले। फिर जन-संपर्क के लिये सूबा-कमेटी का आदेश !

हक़ीक़त यह है कि लँगोटिया यार होते हुए भी लीडर बाबू हमारे लिये एक पहेली हैं। कभी-कभी तो फल, दूध और ड्राई फ़्रूट्स पर गुज़र करके वह अन्न-समस्या हल करने लगते हैं। आलीशान कोठी में बैठे-बैठे साम्य और समाजवाद की गुत्थियाँ सुलझाते हैं। बीस हज़ार की मोटर में बैठकर क्रांति और इनक़लाब की ज़मीन तैयार करते हैं। भूखे-नंगों को त्याग और तपस्या के उपदेश देते हैं। वग़ैरा-वग़ैरा।

संभव है, इसमें भी लीडर बाबू की कोई नीति हो। आखिर हम कोई स्टेट्समैन या डिप्लोमेट तो हैं नहीं, जो नेताजी के हर जौहर की बारीकियाँ समझ सकें। इसीलिये तो हम उन्हें ताज़ीरात हिंद का अवतार मानते हैं। हम ही क्या, सारी दुनिया उनके भाई-बंदों का लोहा मानती है। तवारीख के पन्ने लौटिए, तो पता चले कि लूट, आतंक, दमन, निरंकुशता, क़त्लेआम और जंगी तबाहियाँ, सभी कुछ नेतामंडली की देन है। ज़रा इस पर भी सोचिए कि अगर पूरी-पूरी नेता-जाति दुनिया के पर्दे से उठ जाय, तो क्या हालत हो दुनिया और दुनियावी चहल-पहल की !

क़ब्ल इसके कि आप अपने अक़्लशरीफ़ पर किसी तरह का ज़ोर डालें, हम ही इशारतन् बताए देते हैं कि अगर ऐसी क़यामत आई, तो अखबारों का बेड़ा ग़र्क़ हो जायगा। नंबर दो—पार्लिया-मेंट—सीनेट और असेंबली की इमारतों में उल्लू बोलने लगेंगे। नंबर तीन—दंगे, फ़िसाद, प्रदर्शन और हड़तालें-तिलिस्मी कहानी-भर रह जायँगे, जिन्हें देखने के लिये आनेवाली औलाद तरसेगी।

नंबर चार—दंड-विधान की सैकड़ों दफ़ाएँ बेकार हो जायँगी। और तो और, जश्ने-आज़ादी, शहीद-दिवस और दूसरे पर्वों की छुट्टियाँ बंद हो जायँगी। गिनाने को हज़ार चीज़ें गिनाई जा सकती हैं, पर याद रखिए, यही बहुत हैं।

इतमीनान रखिए, ऐसा दिन कभी न आएगा। अल्लाह चाहे, तब भी नहीं, क्योंकि लीडर बाबू और उनके भाई-बिरादर उसके खिलाफ़ भी लीडर-सेफ़्टी-ऐक्ट पास करा डालेंगे। लीडर और उसके भाई-बिरादरों की शक्ति आप क्या जानें। चाहें, तो एलेक्शन का तख्ता लौट दें; चाहें, तो बातों-बातों में तूफ़ान उठा दें, समंदर में आग लगा दें, अपनी पर उतर आएँ, तो चीख-चीखकर ख़ुदा के कान बहरे कर दें; पिघल जायँ, तो मालामाल कर दें; रहम करें, तो अपने चरणों में आश्रय देकर सात पुश्त की औक़ात निखार दें। यही सब सोच-समझकर हमने आज से लीडर-महिमा के गीत गाना शुरू किया है, और शायद यही सोचकर संत कबीर लाख रुपए की बात कह गए हैं—

रिश्वत दीने एक फल, ब्लैक किए फल चार;
लीडर मिले अनेक फल, कहैं कबीर बिचार।

भीषण भाषण

"अजी, मैंने कहा, सुनते हो!" बहूजी भिनभिनाईं, और पुरानी जीपकार की तरह धड़धड़ाती साहब के कमरे में जा धँसीं। मिनिस्टर साहब अभी तक पड़े औंघ रहे थे। घड़ी ने चार का घंटा बजाया और मेल-मुलाक़ातियों की तादाद चालीस से ऊपर जा पहुँची।

"सारे दिन सोते ही रहेंगे क्या?" वह ज़रा ऊँचे स्वर में बोलीं, "कब से बैठे हैं होली मिलने····" और बग़ल के कमरे में, जहाँ दर्जनों एम्० एल्० ए०, दसियों जी हाँ हुज़ूर और कितने ही कृपाकांक्षी डटे हुए थे, क्षण-भर को कानाफूसी हुई, किंतु मंत्रिवर अब तक कुंभकरन की भाँति पड़े खर्राटे ले रहे थे।

[सम्पादन]

बीबी के लेक्चर

"अच्छी नींद हुई निगोड़ी", बहूजी ने तुनककर चादर समेटी और मंत्रीजी ने क्षण-भर को अंगारे-जैसी लाल-लाल कीचड़ से चिपचिपाती आँखें खोलीं, और दूसरे ही क्षण बड़े इत-मीनान से करवट ले वह पुनः पड़ रहे।

"सुनते नहीं जी?" कंधा झकझोरती हुई बहूजी चिल्लाईं।

"सुनता नहीं! बहरा हूँ!" नाक के सुर बड़बड़ाते हुए मंत्रिवर भरभराकर उठ बैठे। बेतहाशा मुँह फैलाकर जम्हाई ली, और कहने लगे, "तुम्हारी यह मजाल! एक मिनिस्टर की यह तौहीन! समझ क्या रक्खा है? खड़े-खड़े बंद करा दूँगा। फिर कब काम आएगा साला प्रिवेंटिव डिटेंशन?"

बहूजी हतबुद्धि-सी खड़ी यह सब सुन रही थीं, तब तक बच्चों की पल्टन आ धमकी। मिनिस्टर साहब का पारा और भी चढ़ गया। लगे चीखने, "शेडो! पिस्तौल अर्दली! साला कहाँ मर गया। कर्फ़्यू....दफ़ा चवालिस....फ़ायरिंग करा दूँगा। किसने तुम्हें यहाँ आने दिया?" छः साल के कल्लू की कनपटी पर तमाचा रसीद करते हुए बोले, "अनलाफ़ुल असेंबली! जानते हो, मिनि-स्टर से कैसे मिलते हैं?"

"मैं पूछती हूँ", कल्लू की कनपटी सहलाती बहूजी बोलीं, "आपको हो क्या गया है?"

"तुम कौन हो जी पूछनेवाली? सवाल करने का एक सैट तरीक़ा है जम्हूरी ढाँचे में।"

"भाड़ में जाय आपका जम्हूरी ढाँचा।" श्रीमतीजी तुनक-कर बोलीं।

"ज़ुबान पर लगाम लगाओ। मैं कहता हूँ, यह सदन का

अपमान है। हम इस तौहीन को हरगिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकते। यही हमारी शानदार परंपरा का तक़ाज़ा है।" मिनिस्टर साहब गरज उठे, और बच्चे जितनी ख़ुशी से उछलते-कूदते आए थे, उतने ही डर से धीरे-धीरे खिसक गए।

"कैसा सदन ? मैं कुछ नहीं समझ रही।" बहूजी परेशानी से पूछ बैठीं, और मुँह फैलाकर स्वयं प्रश्न-सूचक बन गईं।

"यह बताना जन-हित में नहीं है।" मिनिस्टर साहब ने अपने कर्कश स्वर में आकस्मिक मृदुता भरते हुए कहा।

"मगर सुनिए तो........" बहूजी ने बड़ी नरमाई से कुछ कहना चाहा।

"बहुत सुन चुका हूँ। सबकी स्पीचें बड़े ध्यान से सुनी हैं। बकते हैं सब-के-सब। बिला वजह कीचड़ उछालते हैं। मुझे फ़ख़्र है कि हमारी हुकूमत ने छ साल के अंदर वह कर दिखाया, जो अँगरेज़ दो सौ साल में नहीं कर सके। विरोध के लिये विरोध करते हैं। मैं दावे के साथ कहता हूँ, इनके पास कोई रचनात्मक सुझाव नहीं है। सूबे की हालत ये रंगीन चश्मे चढ़ाकर देखते हैं।"

"अच्छा, अब बस कीजिए।" बहूजी ने ऊबते हुए कहा।

"बस, हाँ, अच्छी याद दिलाई। बसों का उद्योग राष्ट्रीय-करण की दिशा में हमारा पहला क़दम है। हम नहीं चाहते कि यहाँ का आदमी हैवान की तरह रिक्शा घसीटे। नवाबी के साथ-साथ इक्कों का ज़माना लद गया। हम इस अमानवीय पेशे को मिटाकर ही दम लेंगे।"

"मैं कहती हूँ, आपको क्या हो गया है ?" बहूजी घबरा-कर बोलीं।

"फिर वही बेहूदे सवाल। यह सवाल उनसे पूछो, जो आए दिन हमारे रास्ते में रोड़े अटकाते हैं। हड़तालें करते हैं। जुलूस निकालते हैं। सत्याग्रह और अनशन कर बैठते हैं। नालायक़ कहीं के!"

"भंग तो नहीं खा ली आपने?" बहूजी ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"ओह, विजया! कितना प्यारा नाम है। मगर इस सूबे में नशाबंदी-योजना लागू हो चुकी है। राजधानी में देशी शराब की एक बूँद नहीं मिल सकती। मैं···मैं भंग, नहीं···नहीं।" मंत्रिवर लड़खड़ाए।

"लोग सुनेंगे, तो क्या कहेंगे?" बहूजी ने ड्राइंग-रूम की तरफ़ इशारा किया।

"क्या कहेंगे? क्या बकेंगे? मैं क्या जानूँ। भाषण की आज़ादी इन्हें भी है। आयँ-बायँ बककर उस अधिकार का दुरुपयोग करेंगे, तो इनकी भी अक़्ल ठिकाने लगा दी जायगी। जल में रहकर, कौन है, जो मगर से बैर की जुर्रत कर सके? आप यह अच्छी तरह समझ लीजिए कि हमारा विरोध पार्टी का विरोध है। पार्टी के विरोध का मतलब है, सरकार की मुख़ालफ़त यानी देश-द्रोह।"

"ज़रा धीरे बोलिए, लल्ली के पिताजी!" बहूजी ने मिन्नत की। किंतु हुआ उनके निवेदन का असर एकदम उलटा ही। मंत्रिवर ज़ोर-ज़ोर से चीखने लगे, "यह हरगिज़ नहीं हो सकता। मेरी आवाज़ घर-घर में पहुँचनी चाहिए। मेरे वक्तव्य और भाषण लोगों को मार-मारकर पढ़ाए जाने चाहिए। इस काम में

ढिलाई नहीं हो सकती। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि ढिलाई और कमज़ोरी की नीति अपनाकर कोई लाफ़ुल सरकार नहीं टिक सकती।"

"हे भगवान् !" बहूजी आँसू बहाती हुई बोलीं, "आपकी बातों से मेरा दिमाग़ चकरा उठा है।"

"यह तुम्हारी कमज़ोरी है। याद रक्खो, संविधान ने तुम्हें समानता का अधिकार दिया है। लेकिन तुम ठहरीं हिंदुस्तानी औरत ! तुम्हारे पुराने संस्कार अभी शेष हैं। मैं आपको यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि कोड-बिल से यह डिसएबिलिटी दूर हो जायगी। मैं आपसे पूछता हूँ, और बड़े अदब से यह जानना चाहता हूँ कि आखिर आपका भी कुछ फ़र्ज़ है ? भला बताइए, देश की बढ़ती हुई आबादी की रोक-थाम के लिये किया क्या है आप लोगों ने—अपनी तरफ़ से। प्यारी बहनो……!"

"आपका दिमाग़……!" 'बहनो' शब्द से चौंकते हुए बहूजी चिल्लाईं।

"दिमाग़ ! ठीक कहती हो। दिमाग़ में चक्कर है, पैर में चक्कर है, तक़दीर और तदबीर में चक्कर है। हम अभी घनचक्कर हैं। चरखे का चक्कर हमारा क़ौमी निशान है। जिसके मानी हैं, आप समझिए—गतिशीलता। जिसके मानी तरक़्क़ी हैं। जिसका साफ़ मतलब है—प्रगति और तरक़्क़ी। मुझे खुशी है कि तुम्हारे दिमाग़ में चक्कर आ रहा है।"

सहसा ड्राइंग-रूम में बड़े ज़ोर का क़हक़हा लगा और मिनिस्टर साहब के भाषण का धारा-प्रवाह बीच ही में रुक गया। न-जाने क्या चकर वह चारपाई से उतरकर सीधे ड्राइंग-रूम में

जा धमके। उन्हें देखते ही लोग उठ खड़े हुए। मंत्रिवर की मुद्रा, अधनंगा शरीर और शरीर की बेडौल आकृति देखते ही हँसी, कौतूहल और आश्चर्य के मिले-जुले अनेक भाव लोगों के मस्तिष्क में दौड़ गए। किंतु वे उन्हें बलात् दबाए रहे। मंत्रिवर कुछ देर भौचक्के-से इधर-उधर देखते रहे फिर बोले—

"प्यारे भाइयो और बहनो! अरे, तुम यहीं क्यों नहीं आ जातीं," सहन में पत्नी पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने कहना शुरू किया, "हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था। चुनांचे मेरा फ़र्ज़ है कि आप सबको अपनी ओर से, अपने देशवासियों और सरकार की तरफ़ से मुबारकबाद दूँ। आपको आज का दिन मुबारक हो। यह दिन हमारी आज़ादी की तारीख़ में एक सुनहरा दिन है।"

यह सुनते ही लोगों को हँसी दबाना मुश्किल हो गया। लाख प्रयत्न करने पर भी वे अपनी मुस्कराहट पर क़ाबू न पा सके। मंत्रीजी ने खखारकर गला साफ़ किया और कहने लगे—

"भाइयो, आप यक़ीन कीजिए। मैं किसी रसम की अदायगी भर नहीं कर रहा, बल्कि दिल से मैं आपको मुबारकबाद देता हूँ, जी हाँ, तहे दिल से। आप लोगों ने यहाँ आने की जो तकलीफ़ गवारा की है, उसके लिये मैं आपका बेहद एहसानमंद हूँ। आपको काफ़ी देर इंतज़ार करना पड़ा, इसका मुझे सख्त अफ़सोस है। मैं आपसे छुपाना नहीं चाहता, हम लोग हिंदुस्तानी टाइम के बेहद पाबंद हैं। और उस पर अगर सरकारी काम की वजह से दो-चार घंटे की देर हो जाय, तो मैं अपने अखबारनवीस दोस्तों से खास-तौर पर कहूँगा कि ये बातें उन्हें माइंड नहीं करनी चाहिए। रूस, चीन को छोड़ दीजिए।" मिनिस्टर साहब ने सोफ़े पर हाथ पटकते

हुए कहा, "जहाँ के हुक्मराँ लोहे की दीवारों में बापर्दा छिपे रहते हैं। जनता के सामने आने से डरते हैं। मैं आपसे कहता हूँ दीगर मुमालिक की बात।"

"और देशों में आज हालत क्या है? उसे समझने की ज़रूरत है। वक्त की माँग है कि इन बातों पर आप ठंडे दिल से ग़ौर करें; सोचें; समझें; क्योंकि यह मामला निहायत ही अहम है। और इस बात से, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ, हमारे विरोधी भी इनकार नहीं कर सकते।"

मिनिस्टर साहब सहसा रुककर गला साफ़ करने लगे। लोगों ने आश्चर्य-चकित हो एक दूसरे पर दृष्टि डाली। बाहर बरामदे में पी० ए० और पर्सनल स्टॉफ़ के अन्य लोग खड़े-खड़े भाषण का मज़ा ले रहे थे। मिनिस्टर साहब काफ़ी देर यों ही खड़े ऊँघते रहे। फिर बोले—

"सज्जनो! मैंने आपका काफ़ी वक़्त लिया। मेरा भी काफ़ी क़ीमती वक़्त, मुझे खुशी है, आप लोगों से बातचीत करने में गुज़रा। मगर हमारे सामने इससे भी बड़े सवाल हैं। बहुत बड़े-बड़े सवाल हैं। [illegible] देश में राष्ट्रीय सरकार बनी। [illegible] बटवारा हुआ। लाखों लोग इधर से उधर आए, गए, मगर हमने हिम्मत नहीं हारी। आगे बढ़े, बढ़ते ही गए, और मैं इस हाउस को यक़ीन दिलाता हूँ कि जिस जिम्मेदारी को हमने कंधों पर लिया है, उसे पूरा करके ही रहेंगे।

"दुनिया में आज", मंत्रिवर ने अपने लेक्चर का सिलसिला जारी रखते हुए कहा, "आज दुनिया के लोग हमारी तरफ़ देख

रहे हैं। उन्हें हमसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं। दुनिया में हमारी इज़्ज़त बढ़ी है। हमारी तारीफ़ हुई है। जो लोग बाहरी विलायतों से यहाँ आए हैं, उन्होंने भी हमारे हौसले और काम पर दाद दी है।

"मगर यह तो शुरुआत है।" एक बुज़ुर्ग एम्० एल० ए० पर दृष्टि जमाते हुए मंत्रीजी कहते गए, "अभी हमें बहुत कुछ करना बाक़ी है। और उसे पूरा करने के लिये हम दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। बड़ी-बड़ी योजनाएँ हमारे सामने हैं। बड़े-बड़े सवाल हैं, और बड़े-बड़े दिमाग़ उन्हें हल करने में लगे हैं।

"आखिर में," मंत्रिवर ने अपील की, "मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि इस वक़्त छोटी बातें आप अपने दिमाग़ से निकाल दें। तंगदिली, फ़िरक़ा-परस्ती, और, मैं आपसे अर्ज़ करूँ, प्राविंशियलिज़्म के खयालात दिल से निकाल डालें। मुल्क की तामीर के लिये ज़रूरी है कि लोग सरकार की आलोचना से बाज़ आएँ, क्योंकि उससे फ़िज़ा खराब होती है। लोगों की ज़हनियत पर उसका असर पड़ता है।

"रोटी का सवाल क़रीब-क़रीब हल हो गया है। फिर भी हमारे मुखालिफ़ कहते हैं कि लोग भूखों मर रहे हैं। यह सरासर झूठ है। फ़रेब है। जनता को इन राजनीतिक चालों से सावधान रहना होगा। मैं पूछता हूँ, क्या इस देस की जनता किसी को भूख से मरते देख सकती है? नहीं, यह नामुमकिन है। रहा बेकारी का सवाल, वह कोई सवाल नहीं है। सच तो यह है कि लोग काम नहीं करना चाहते। मेहनत-मशक़्क़त और हाथ के काम से उन्हें नफ़रत है। आज ज़रूरत है सख्त मेहनत की। लोग कपड़े को चिल्लाते हैं। मुझे बताइए, आपमें कौन है, जिसके तन पर कपड़ा

नहीं है। बाज़ारों में सामान की कमी नहीं है। चीज़ों के दाम गिर रहे हैं। लोगों की आमदनी बढ़ रही है, फिर आपका डैपूटेशन कोई मानी नहीं रखता।"

"लेकिन चूँकि आप यहाँ आए हैं, इसलिये अभी तो इतना ही कह सकता हूँ कि सरकार आपकी माँगों पर हमदर्दी से ग़ौर करेगी। आपका भी फ़र्ज़ है कि आप ज़ब्त से काम लें। हड़ताल वापस लें, ताकि सहानुभूति, सदिच्छा और अमन की फ़िज़ा में आपके मसले पर सोचा जा सके।" और 'जय हिंद' कहकर मंत्रिवर वहाँ से अंदर चले गए।

लोग हँसी दबाए बाहर आए। पी० ए० महाशय के होठों पर मुस्कान खेल रही थी। लोगों की कानाफूसी का सिलसिला शुरू होते देख बोले, "बुरा न मानिए, होली है।" और लोग खिलखिलाकर हँस पड़े।

"ज़्यादा पी गए, लगता है।" एक बुज़ुर्ग बोले।

"जी हाँ, जय भंग भवानी की।" एक कमउम्र नवयुवक ने कहा।

"नशाबंदी ज़िंदाबाद" तीसरे ने क़हक़हा लगाया।

कल्लन मियाँ

धुएँ की तरह चक्करदार और सवालिया निशान की तरह पेचीदा मियाँ कल्लन भी एक ही आदमी हैं। जनाब की दास्ताने-ज़िंदगी एक अच्छा-खासा अफ़साना है। अफ़साना ही क्यों, नाविल-नौटंकी, सभी कुछ है। अगर कमी है, तो सहज़ पोस्टमार्टम यानी विश्लेषण करने की। यही सबब है कि उनकी ज़िंदगी के हज़ारहा पहलू एक पहेली की तरह आपस में उलझे हुए हैं। मसलन्—जनाबआली का पेट खाली है और मिज़ाज रूमानी; दिल शाहाना और दिमाग़ शायराना है।

राजनीति से रोमांस तक क़ायनाते-ज़िंदगी के हर शरई और

ग़ैरशरई पहलू पर आप उनसे घंटों मग़ज़खोरी कर सकते हैं। तारीफ़ तो यह है कि चीज़ों को पेश करने और समझाने का उनका अपना तौर-तरीक़ा है। बातचीत का सिलसिला शुरू-भर हो जाय, फिर भला, थमना किस चिड़िया का नाम है। लोक-परलोक, मुल्की और ग़ैर मुल्की हर मसले पर वह पूरे इतमीनान और .खुलूस के साथ उस वक़्त तक बोलते चले जायँगे, जब तक कि आपका सर न दुखने लगे।

कल्लन साहब की एक .खुसूसियत यह भी है कि वह दौराने-बातचीत में, ज़ाहिरा तौर पर, सुननेवाले के 'मूड' और 'बोरियत' का पूरा-पूरा ख़याल रखते हैं। मसलन् अगर उनकी बातों में उलझकर आपकी बस या ट्रेन निकल जाय, तो वह बड़ी आत्मीयता से कहेंगे, "अमाँ, जाने भी दो। क्या हुआ? यह ज़िंदगी भी तो एक लंबा सफ़र है। फिर भला, मंज़िल के लिये बेताबी क्यों?"

यों अव्वल तो उनकी लच्छेदार बातें सुनते-सुनते तबियत नहीं भरती, और अगर कहीं आप मेहनतकश हुए—यानी थकान की वजह से आपको झपकी आ गई, तो कल्लन मियाँ एक खास अंदाज़ में, आपके कंधे या जाँघ पर (औरतों के नहीं) एक थपकी रसीद करेंगे और आगे जगाए रखने के लिये— 'ज़रा ग़ौर फ़रमाएँ', 'आपसे क्या छुपाऊँ', 'क़ाबिले-ग़ौर', 'बेमिसाल', 'बेनज़ीर', 'निहायत संगीन', 'ख़ौफ़नाक', 'हैरतअंगेज़', 'बेहद ज़रूरी', 'हद दर्जे' और 'अहम'-जैसे चौंका देनेवाले अनगिनत लफ़्ज़ों को हस्ब ज़रूरत इस्तेमाल करेंगे।

सच पूछिए, तो उनकी ज़ुबान में कुछ ऐसा जादू है, जो उनके मुँह से निकलनेवाला हर लफ़्ज़ चाशनी में तर जान पड़ता

है। मजाल है, 'भाईजान', 'बिरादर', 'हुज़ूरेवाला' और 'बंदापरवर' के बिना आधी बात भी कह दें। विनम्रता दिखाने में भी वह उतने ही उदार और फ़राग़दिल हैं। .खुद को 'नाक़िस', 'नाचीज़', 'खाकसार' और न-जाने क्या-क्या कहा करते हैं।

मियाँ कल्लन की दुआ-सलाम, बंदगी और आदाब में भी एक खास सलीक़ा होता है। अगर कहीं आप लखनवी अंदाज़ में 'मिज़ाज शरीफ़ ?' कहकर उनकी खैराफ़ियत पूछ बैठे, तो बड़ी कृतज्ञता से मुँह बिचकाते हुए वह कहेंगे, "दुआ है। करम है। इनायत है। ज़र्रानवाज़ी है।" वग़ैरा-वग़ैरा—और वह भी एक साँस में, जैसे आपके हमले से वह पहले ही से आगाह हों। दुआ-सलाम के वह बेहद पाबंद हैं। बड़ों को छोड़िए—बराबरवालों को मौक़ा नहीं देते कि वह पहले ही हाथ उठा सकें। बल्कि उनसे छोटे भी अगर अपनी तरफ़ से सलाम न झुकाएँ,तो कल्लन साहब .खुद ही वह फ़र्ज़ बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से अदा करते हैं।

लेकिन इन बातों से आप कहीं यह न समझ लीजिए कि उन्हें ग़ुस्सा नहीं आता। आता है, और .खूब आता है। पल-पल पर त्योरियाँ बदलना तो कोई उनसे सीखे। वह दब्बू भी नहीं हैं। हाँ, अदब और लिहाज़ के बेहद क़ायल हैं—बेहयाई और बदतमीज़ी उन्हें आँखों लड़ती है। जब वह किसी पर बिगड़ने लगते हैं, तो लगता है, जैसे साबुत निगल जाएँगे।

'गोली मार दूँगा', 'खाल उधेड़ दूँगा', 'भुस भरवा दूँगा', 'पसलियाँ तोड़ दूँगा', '···तड़ काट दूँगा—' ये हैं उनकी वीरोक्तियों के चंद नमूने। ज़ुलुम-ज़्यादती का जमकर मुक़ाबला करना उनकी आदत में शुमार है—चाहे वह किसी पुलिसवाले की हो,चाहे किसी

पैसेवाले की। हाथा-पाई की कभी नौबत नहीं आती। पर हाँ, जब वह गरजने लगते हैं, तो लगता है, जैसे अपने से चौगुने आदमी को दे मारेंगे। दस-बीस को बात-की-बात में मसल डालेंगे।

यों इंसाफ़-पसंद और हरदिल-अज़ीज़ होते हुए भी उनकी बदनसीबी है, तो यह कि किसी अदीब की निगाह उन पर नहीं पड़ी—वरना कल्लन साहब भी न-जाने कब के हीरो बन गए होते। देखिए न, अल्लम-ग़ल्लम मज़ामीन पर लिख-लिखकर कितने लोग ए से ज़ेड तक डिग्रियाँ चिपकाए घूमते हैं, और एक यह बेनज़ीर हस्ती है, जिस पर किसी भलेमानुस को क़लम उठाना तो दूर—हमदर्दी से सोचना तक गवारा नहीं है।

फ़िल्मी स्टॉर गौरैया और कुक्कू को ही ले लीजिए। आपको हज़ारहा अंडर और पोस्ट ग्रेजुएट मिल जायँगे। जिन्हें इन तारि-काओं के सोने-जागने, उठने-बैठने और छींकने-खाँसने तक में दिलचस्पी है। कुछ अखबारनवीस दोस्त हैं, जिनकी पत्रकारिता महज़ इन तक ही महदूद है। मगर हमें आज तक ऐसा एक न मिला, जो कल्लन मियाँ की तरफ़ राग़िब होता। भला बताइए, कब किसी चित्र या पत्रकार ने, गाँव की गोरी या कॉलेज की शोख़ छोरी ने हमारे चाँद-से कल्लन मियाँ और उनकी ज़िंदगी पर तवज्जो दी है।

झूठ क्यों बोलें—हमें तो आज तक कोई मकुआ न मिला, जिसने इनकी ज़िंदगी के पन्नों को पलटने की कोशिश की हो। असल में इस मुबारक हस्ती के जीवन का इतिहास ही उन हुरूफ़ों में लिखा हुआ है, जो क़िस्मत की लकीरों की तरह उलझे हुए हैं। दुनिया में बिरला ही कोई हो, जो उसे पढ़ने और समझने की

हिम्मत कर सके। इस महामानव के दिल-दिमाग़ की थाह पा सके; या उसके ऊबड़-खाबड़ व्यक्तित्व का सही-सही मूल्यांकन कर सके।

माना कि कल्लन साहब क़ौम से भिश्ती, पैदायश से बरन-संकर-यक़ीदे से सेकुलर और पेशे से बेरोज़गार हैं, मगर फिर भी वह दीगर मुसलमानों की तरह भीगी बिल्ली नहीं हैं। उनकी रग-रग में बाबर का लड़ाकू ख़ून और अकबर की हुकुमरानी है; शाह-जहाँ का निर्माण और जहाँगीर की रंगीनियाँ उन्हें विरासत में मिली हैं। बहादुरशाह की देश-भक्ति और अवध के नवाबों की फ़राग़-दिली उनकी पैदायशी ही नहीं, बल्कि परंपरागत देन है।

फ़िरक़े-परस्तों से उन्हें बेहद नाराज़गी है—कल्लन मियाँ उन्हें गुमराह कहते हैं, और तरस खाते हैं मज़हबी दीवानों की कुंदज़हनी पर। संघी और लीगी, दोनो के नाम से उन्हें चिढ़ है। सन् सैंता-लिस की बात है—सांप्रदायिक दंगे-फ़सादों की खबरें सुन कर मियाँ कल्लन फूट-फूटकर रोने लगते थे। सरे बाज़ार वह कहते थे, "ये बलवाई—हिंदू या मुसलमान नहीं—लामज़हब गुंडे हैं—गुंडे, जो मासूम बच्चों और बेगुनाहों का लहू पीते हैं, बहनों की अस्मत लूटते हैं—गुंडे, जो इंसानियत के वेश में खूँख़्वार वहशी हैं।"

इस तरह मज़हब के मामले में वह अमली आदमी हैं। हदीस और कलामे मजीद के अलावा उन्हें 'रामायन' की सैकड़ों 'नज़्में' और गीता के दसियों 'इसलोक' हिफ़्ज़—याद हैं। अपने मादरे-वतन को वह बेहद पाकीज़ा और अज़ीज़ समझते हैं। एक मरतबा किसी चंडूबाज़ ने यों ही कह दिया कि मियाँ कल्लन, बाँध लो बिस्तर, सारे मुसलमान अब पाकिस्तान भेजे जायँगे। बस फिर क्या था, कल्लन साहब का पारा चढ़ गया।

गुस्से से काँपते हुए आप कह रहे थे, "ऐसी-तैसी पाकिस्तान की। हम हिंद की सरज़मीन पर पैदा हुए हैं—दोआबे की मिट्टी में खेले और बड़े हुए हैं—इस मुबारक धरती का नमक खाया है—मादरे-हिंद की आजादी के लिये लड़े-मरे हैं, भला, हमें यहाँ से कौन निकाल सकता है।"

"अरे भाई, इसमें बिगड़ने की क्या बात है। सीधे न जाओगे, ज़बर्दस्ती निकाले जाओगे।" एक मसखरे ने दलील दी।

"जी! बड़े आए निकालनेवाले। दादे-परदादे यहाँ दफ़न हुए और हमारी क़ब्र बनेगी वहाँ, जहाँ कोई अपना नहीं? ग़ैरमुल्क में पनाहगुज़ीर होने से बेहतर है, हम खुदकशी करके मर जायँ। जब ज़िंदगी की पहली साँस यहाँ ली है, तो आखिरी साँस के लिये हम कहाँ जायँगे?" और कल्लन मियाँ की आँखें नम हो गईं। गला रुँध गया—इससे ज्यादा वह और कुछ न कह सके।

मियाँ कल्लन फ़क़त दम हैं। न आगे नाथ, न पीछे पगहा। वाल्दैन—बीबी-बच्चे हैं नहीं। अलबत्ता दसियों दोस्त-अहबाब और दर्जनों मेल-मुलाक़ाती ज़रूर हैं। सोसायटी के हर तबक़े में उनकी उठक-बैठक है—क्या लीडर, क्या प्लीडर। फ़िलसफ़ियों से लेकर शिकारियों तक मुहल्ले और शहर के हर खासोआम से उनकी जान-पहचान है। अवाम की सोहबत में उनका वक़्त कटता है, जी बहलता है, और अगर उन्हीं के लफ़्ज़ों में कहा जाय, तो 'ये लोग ही मेरे खानदानी—अज़ीज़ हैं।'

फ़ितरतन् मियाँ कल्लन मुहल्लेदार हैं। हर किसी के काम के लिये आधी रात हाज़िर। सबकी खुशी और ग़म में शरीक होते हैं। कोई बीमार हो जाय,बस, कल्लन साहब लगे हैं तीमारदारी

में—रात-रात जागकर पंखा झलेंगे। किसी के शादी-ब्याह हो, कल्लन मियाँ बिना बुलाए झंडियाँ बनाने जा धमकेंगे।

मौलाना यों किसी खास लिबास के पाबंद नहीं। एक दफ़ा का पहना हुआ कपड़ा जब तक तार-तार न हो जाय, उतारना भला किसे कहते हैं। अमूमन् वह अलीगढ़ कट का टखनों तक ऊँचा पाजामा पहनते हैं, और उस पर दर्जन-भर रंग-बिरंगे थिगड़े। कमीज़ भी ऐसी ही—बिला बटन—बिला कालर की, जिसका दामन नाक साफ़ करने से लेकर चना-चबेना तक भरने के काम आता है।

खास-खास मौक़ों पर—जैसे कोई जलसा, मजलिस या मुशायरा हो—वह बड़े बन-ठनकर निकलते हैं। चिकन का फूलदार कुर्ता, दुपल्ली टोपी, लट्ठे का पाजामा और कामदार जूता पहनकर जब वह निकलते हैं, तो पूरे छैला नज़र आते हैं, और लोग उन्हें 'नौशा भाई' कहने लगते हैं। आँखों में महीन-महीन सुर्मा और बेतरतीब उगे दाँतों पर मिस्सी का इस्तेमाल भी वह ऐसे ही मौक़ों पर करते हैं, और मूछों में हिना-मोतिया का भी।

आप कहेंगे, मौलाना की मूँछ भी कोई मूँछ है! हम पूछते हैं, मूँछ कोई एक क़िस्म की होती है? मूँछों के पूरे सवा करोड़ कट हैं। मौलाना की मूँछ भी उन्हीं में से एक है। दूध की बालाई मूँछों में अटक जाय, यह भला कहाँ की तुक है? लिहाज़ा तैमूरी कट उन्हें पसंद है। तैमूरी कट से हमारी मुराद उस कट से है, जिसमें ऊपरी होंठ जी॰ टी॰ रोड की तरह सफ़ाचट हो, और दोनो सिरों पर चूहे की पूँछ-जैसे दो छोटे-छोटे सिरे चुग्गी दाढ़ी में छिपते नज़र आएँ।

तो खैर, हम आपसे जनाब की पोशाक अर्ज़ कर रहे थे। एक दफ़ा यों ही मज़ाक़ में हमने उन्हें खद्दर का बाना अपनाने की राय दे डाली। हुआ वही, जिसकी हमें उम्मीद थी। कल्लन साहब को इज़हारे-ख्यालात का मसाला मिल गया। बोले, "भई! बुरा न मानना, यह खद्दर-वद्दर अब अपने बस की चीज़ नहीं है। वो सुदेसी का ज़माना लद गया, जब हम खद्दर पे फ़िदा थे। और आप चाहते हैं कि हम अब खद्दर की भूल ओढ़ें? बिला वजह ख़ुद को दुनिया की नज़रों में गिराएँ?"

"तो गोया खद्दरवाले आपकी राय में ज़माने की नज़रों में गिर चुके हैं?" हमने सवाल किया।

"सबके लिये तो नहीं कह सकता—मगर ये जो बरसाती मेंढक पैदा हुए हैं, इनमें निन्यानवे 'परसंट' रँगे सियार हैं। कमबख्त फ़ोरहैन का मंजन इस्तेमाल करेंगे—दाढ़ी खुरचेंगे 'ज़िल्लत' के अस्तुरे से। 'शिलाज़त' कंपनी के बिस्कुट खायँगे और 'सबर-लेट' पर सवारी गाँठेंगे—और ऊपर से सुदेसी का बाना पहनकर दुनिया को उल्लू बनाना चाहते हैं।"

"मगर कल्लन भाई, ये चीज़ें हमारे यहाँ बनती कहाँ हैं?" हमने शंका उठाई।

"अमाँ, नहीं बनतीं, तो बननी चाहिए—सुराज के मानी क्या महज़ लीडर बनाना है? मगर ये बनने दें, तब न? इस विदेसी ने, बखुदा कहता हूँ, हमारी सारी दस्तकारी ख़ाक में मिला दी। सारी-की-सारी क़ौम को ग़ुलाम-मुहताज बना डाला। इन अंधों की आँखें फिर भी नहीं खुलतीं—ये तो बस धुआँधार तक़रीरें करना ही जानते हैं। कमबख्तों को अमेरिका से कमीशन जो मिलता है।"

"कमीशन !" हमने ताज्जुब ज़ाहिर किया ।

"जी हाँ कमीशन । तभी तो ये देस की दौलत लुटाने पर तुल गए हैं ।" कल्लन मियाँ ने दलील दी ।

"ख़ैर, छोड़िए कल्लन साहब", हमने अपनी तरफ़ से बात-चीत का सिलसिला ख़तम करते हुए कहा, "देस के मसलों को हम और आपसे ज़्यादा क़ौमी रहनुमा समझते हैं ।"

"भाईजान ! मलाल तो यही है कि जान-बूझकर भी ये हिमाक़त पर हिमाक़त किए जा रहे हैं । भला, वह एकला जवाहर लाल कहाँ-कहाँ जान खपाए जब कि उस ग़रीब के साथी ही आस्तीन के साँप हो रहे हैं । मरदूदों के ख़ुदा जाने पेट हैं या भट्ठिएँ ? ठेकों में खायँगे । सिफ़ारिशों में खायँगे । उस बेचारे ने जीप गाड़ियाँ मँगवाईं, और ये ख़रीद लाए बग़ैर इंजन की । रायफ़िलें मँगवाईं, और ये ले आए बच्चे खिलानेवाले तमंचे । उसने ग़रीब-मुहताजों के लिये मकान बनाने का हुकुम दिया, और लीजिए, इन्होंने काग़ज़ के घरौंदे बनाके खड़े कर दिए । या मालिक ! न हुई 'चूहे इलाही' की वज़ारत और 'म्याऊँ' का राज—सालों के पेट चाक कर दिए जाते ।"

यों कल्लन मियाँ किसी सयासी पार्टी या राजनीतिक वाद के क़ायल नहीं; मगर फिर भी कांग्रेस से उनकी तबियत उखड़ी हुई है । वह अक्सर कहा करते हैं, "भई, असल कांग्रेस तो कब की ख़तम हो गई । अलबत्ता उसकी लाश बाक़ी है—लाश, जो ख़ुद तो सड़ ही रही है, फ़िज़ा में भी सड़ायँद पैदा कर रही है । यह अंदरूनी खींच-तान ज़िंदगी की कशमकश न होकर उन चील-कउओं की आपसी लड़ाई है, जो इस लाश के लिये मचल रहे हैं ।"

ज़ाहिरा तौर पर कल्लन साहब का रुझान आजकल रूस और चीन की तरफ़ बढ़ता नज़र आ रहा है। उस दिन वर्मा साहब के यहाँ आप बड़े फ़ख्र से कह रहे थे, "म्याँ, एक वो चीन का मुलुक है। बित्ते-बित्ते-भर के अफ़ीमची उठ खड़े हुए हैं, और एक हम बदनसीब हैं, जिन्हें लेक्चरों की अफ़ीम दे-देकर सुलाया जा रहा है।"

"तो कल्लन साहब, रूस क्यों नहीं हो आते ?" हमारे दोस्त वर्माजी ने राय दी।

"रूस ! अम्याँ यार, स्टेलिन के ज़माने में न गया, तो अब क्या खाक जाऊँगा।" कल्लन साहब ने कुछ ऐसे अंदाज़ में कहा, जैसे लैनिन और स्टेलिन उनके साथ खेले हों।

कल्लन मियाँ गोकि ज़िंदगी की मंज़िल क़रीब-क़रीब तय कर चुके, मगर फिर भी अभी ख़ुद को जवान समझते हैं। दस बरस पहले भी अपनी उम्र १८-२० बताते थे, और अब भी उतनी ही। उनकी सही उम्र शायद ही किसी को मालूम हो—शायद वह भी फ़िल्मी सितारों की तरह सही उम्र न बताने की हलफ़ उठा चुके हैं। सर के बालों पर मेहँदी और दाढ़ी-मूँछ पर खिज़ाब लगाकर वह चाल भी कुछ ऐसे ढंग से चलते हैं, गोया पल्टन के नए रंगरूट हों।

दर हक़ीक़त, जिस्म से तो नहीं—मगर हाँ, तबियत से वह जवान ज़रूर हैं। बच्चों-जैसी उछल-कूद उनसे अब तक जुदा नहीं हुई। मुहल्ले के छोटे-छोटे बच्चे जब 'कल्लन भाई—कल्लन भाई' की रट लगाते हुए उन्हें आ घेरते हैं, तो बस, फिर न पूछिए। कल्लन भाई काग़ज़ के दसियों खिलौने—किश्ती, टोपी, गुब्बारा,

पटाखा, हवाई जहाज़, दिन-रात, कोट-पतलून वग़ैरह बनाने में मशग़ूल हो जाते हैं। सर्दी हो या गर्मी, सारी-सारी दोपहरी बच्चों के साथ गुल्ली-डंडा और गोली खेलते रहेंगे।

कनकउए और बटेर लड़ाने में तो वह अपना सानी नहीं रखते। लतीफ़े गढ़ने और सुनाने में भी उन्हें कमाल हासिल है। हाफ़िज़ से लेकर हज़रते चिरकीन तक शायद ही कोई शायर बचा हो, जिसके अशार उन्हें याद न हों। कोई 'टापिक' छिड़ जाय, वह बेलौस होकर शेर पर शेर और बात-बात पर लतीफ़े पेश किए जायँगे।

एक दिन हज़रतगंज में सरे शाम जनाब से मुलाक़ात हो गई। "बड़े ख़ुश नज़र आ रहे हैं कल्लन भाई! कहीं कुछ मिल गया क्या?" हमने छेड़छाड़ शुरू की।

"ना भाई। हमें क्या मिलना है यहाँ? बस, ज़रा यूँहीं दिल बहला रहे हैं—गंज की रंगीनी और रूमानियत से।" कल्लन भाई ने लड़कियों के एक रेवड़ पर नज़र डालते हुए धीरे से कहा।

"आक्खा''''आ''''यह बुढ़ौती और ये नक़्शे! जिओ कल्लन भाई!" हमने दाद दी।

"बुढ़ौती आए तुम्हारे दुश्मनों को", कल्लन मियाँ तड़पकर बोले, "लखनऊ की हवा क्या है, तूफ़ान है। देखो न, यूनीवर-सिटी के लौंडे-लौंडियों को—उड़ाए जा रहे हैं मेरे यार, दिले-कनकउआ।"

"फ़िज़ा का असर है कल्लन भाई।" हमने तुल्बा की तरफ़ से सफ़ाई पेश की।

"बिलकुल दुरुस्त।" कल्लन साहब ने हमारी राय का समर्थन

किया, "इस फ़िज़ा में वह सिफ़त है कि अच्छे-भले सूफ़ी महात्मा का दिमाग़ ख़राब कर दे। दिन पर दिन, हफ़्ते, महीने और साल पर साल गुज़रते चले जा रहे हैं, और ये कमसिनें हैं कि हर तरफ़ से बेख़बर। बचपन की शोख़िएँ और जवानी की मस्तिएँ सर पर उठाए—बुढ़ापे को दूर ही से धता बता रही हैं।" कल्लन मियाँ ने रीगल सिनेमा तक नज़रें दौड़ाते हुए लंबी साँस ली।

"यों दिल न बहलाएँ, तो आख़िर करें क्या? सामाने-तफ़रीह के लिये कुछ तो हो!" हमने लड़के-लड़कियों की तरफ़दारी की, "जब कुछ नहीं है, तो बेचारे यों ही—आख़िर बच्चे हैं।"

"बच्चे हैं! बहुत ख़ूब!" कल्लन मियाँ ने क़हक़हा लगाया, "बग़ैर शादी-ब्याह के माँ-बाप बनने के इरादे रखते हैं—इरादे क्या, बहुतेरे तो बन भी चुके हैं। तफ़रीह के मानी यह तो नहीं हैं कि हया-शरम को बालाए-ताक़ रख दिया जाय। असल बात यह है मेरे भाई! कि ऐसे यहाँ बहुत कम आ पाते हैं, जिन्हें वाक़ई पढ़ने-लिखने में दिलचस्पी है। अक्सरियत है उनकी, जो आते हैं बेकारी से नजात पाने और बन जाते हैं मुस्तक़िल बेकार।"

"बजा है कल्लन भाई।" हमने उनकी हाँ में हाँ मिलाई।

"आजा-बजा तो मैं जानता नहीं। मगर हाँ, यह ज़रूर कह सकता हूँ कि तालीम का यह निज़ाम बदलना है निहायत ज़रूरी। आख़िर जो गुदड़ी तार-तार हो चुकी है, उस पर काग़ज़ी पैबंद कब तक काम देंगे?" कल्लन साहब शिक्षा-विशेषज्ञ के लहजे में कहते गए, "लौंडे-लौंडिएँ यहाँ वक़्त बर्बाद करते हैं, माँ-बाप की गाढ़ी कमाई का पैसा ज़ाया करते हैं, और मेहनतकश वाल्दैन समझते हैं कि साहबज़ादे या ज़ादी ख़ून-पसीना एक कर रहे हैं।"

"ठीक कहते हो कल्लन भाई। लौंडे-लौंडिएँ दिनोंदिन बिगड़ते जा रहे हैं। अदब और लिहाज़ को छोड़िए, पढ़-लिखकर गवारों से भी गए-गुज़रे साबित हो रहे हैं।" हमने फ़ैसला-सा सुना दिया।

"उनको क्या भींकते हो—कच्ची मिट्टी हैं। यहाँ तो साँचे ही खराब हैं। इम्तिहान-किताबें-इंतज़ाम हर मामले में ग़लाज़त-ही-ग़लाज़त। भला, बच्चे कहीं पुलिस और संगीनों से दुरुस्त होते हैं?" कल्लन भाई ने मुँह बनाया, जैसे ज़माने-भर की कड़ुवाहट उन्हीं के मुँह में आ अटकी हो।

मुख्तसर में, कल्लन मियाँ हर मामले में थोड़ा बहुत दखल रखते हैं। अखबार के बेहद शौक़ीन हैं। नुक्कड़वाली पान की दूकान पर वह दिन निकलने से पेश्तर इसी नीयत से आ डटते हैं। एक अजीब अंदाज़ में जब वह अखबार की सुर्खिएँ ज़ोर-ज़ोर पढ़ने लगते हैं, तो अक्सर दस-पाँच कुली-कबाड़ी—खोंचे और रिक्शेवाले उन्हें आ घेरते हैं। और वह हैं कि हर 'समसिया' के हल भी साथ-साथ पेश करते जाते हैं।

उस दिन हमें उधर से गुज़रते देख आपने बुला लिया। बोले, "यूँ बेखबर चले जा रहे हो! कुछ पता भी है, दुनिया में क्या हो रहा है?"

"कहिए, खैरियत तो है?" हमने चौंकते हुए सवाल किया।

"खैरियत! खुदा का नाम लो—" और वह गंभीर हो गए।

"आखिर हुआ क्या?" हमने बेताबी ज़ाहिर की।

"हुआ यह है कि अमरीका ने जंग कराने का क़तई फ़ैसला कर लिया है।" उन्होंने सूत्ररूप में कहा।

"तो क्या हुआ?" हमने लापरवाही से कहा, "पहली जंग हुई, तो हममें ख़ुदमुख़्तारी का जज़्बा पैदा हुआ। दूसरी जंग में आप समझिए, हमारा मुल्क आज़ाद हो गया। इंशा अल्ला अब की जंग हो जाय, तो अपनी चाँदी-ही-चाँदी है। ग़रीबी और बेकारी, मालिक ने चाहा, तो हिंदुस्तान से किनाराकश हो जायँगी।"

"अहमक़ हैं आप!" कल्लन मियाँ बिगड़कर बोले, "दिमाग़ में गोबर भरा है या भुस?"

"गुस्ताख़ी माफ़ हो कल्लन भाई," हमने बाअदब अर्ज़ किया, "कोई ग़लती हो गई क्या?"

"ग़लती पूछते हो! अमाँ, यह तो सोचा होता कि वह जंग का तीसरा टूर्नामेंट यहाँ एशिया में करने का बहाना ढूँढ़ रहा है। निरे अक़ल के दुश्मन हो, भाई जान! ये जो नए-नए बम ईजाद हुए हैं, वो ऐसे हैं कि आदम ज़ात का नामोनिशान ही मिटा डालेंगे।"

"बजा है कल्लन भाई। फिर रोटी-रोज़गार कैसा?" हमने झेंप-सी मिटाई।

इसी बीच एक तीसरे साहब पूछ बैठे कि "आख़िर जंग न हो, तो दुनिया के झगड़े कैसे तय हों?"

"भई वाह! तुम भी अक़ल के पीछे लट्ठ लिए फिरते हो!" कल्लन मियाँ ने उन्हें लगाम-सी लगाई, "भले आदमियों के झगड़े कहीं फ़साद और जूतम-पैज़ार से तय होते हैं! गाली-गलौज और मार-पीट के तरीक़े नेक बादशाहों को ज़ेबा नहीं देते!"

"तब क्या सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में इस्तग़ासे दायर

करें ?" एक पुराने मुक़दमेबाज़ ने कहना शुरू किया, "पेशकार साला बग़ैर पैसे बात नहीं करता—वकील मर्दुए कपड़े उतरवाने के इरादे रखते हैं—शाही खज़ाने, गोया मुक़दमेबाज़ी में खाली कर दिए जायँ ?"

"अरे भई ! यह तो मैंने कहा नहीं कि बादशाह लोग यहाँ पेशियों की रगड़घस में वक़्त और पैसा बर्बाद करें।" कल्लन मियाँ ने सफ़ाई दी।

"तो फिर शायद रूस और अमरीका का झगड़ा तय हो ही नहीं सकता।" बुड्ढे इमाम साहब खीज उठे।

"हो क्यों नहीं सकता ? तय करना चाहें, तब न।" कल्लन मियाँ कहते गए, "अपनी राय में तो हूवर और स्टेलिन के बेटे सलंकों में कुश्ती करा दी जाय। जवाहरलाल से बढ़कर ईमानदार—ग़ैरजानिबदार रेफ़्री मिल नहीं सकता।"

"भई, मान गए कल्लन।" गोमती नहाकर लौटे हुए लल्लू पंडित बोले।

"क्या दिमाग़ पाया है आपने भी ! खुदा कसम—जहाँगीर बादशा और राजा बिकरमाजीत से डबल।" सींकिया पहलवान ने अपने बाज़ू पर हाथ फेरते हुए हाँक लगाई।

"शुक्रिया। शुक्रिया।" लखनवी सलाम झुकाते हुए कल्लन मियाँ बोले, "भई देखो, इस दंगल पे टिकट ज़रूर लगना चाहिए।"

"टिकट ?" गोकुला के लौंडे ने रोनी शकल बनाते हुए कहा।

"अबे, और क्या फोकट में ? यह भी रामलीला समझ रक्खी है। गेंद-बल्ला होता, तो बात और थी।" कल्लन मियाँ ने डाँट लगाई।

"मगर इन पैसों का होगा क्या ?" हमारी जिज्ञासा जाग उठी ।

"पाई-पाई ग़रीब-मुहताजों में खैरात कर दी जायगी ।" कल्लन मियाँ बोले, "ये कोई कांग्रेस-कमेटी का चंदा थोड़े है ।"

"तो फिर मंज़ूर । कुश्ती तय रही ।" सींकिया पहलवान ने खुशी से बाज़ू पर हाथ पटकते हुए कहा ।

"तय साहब !" कल्लन बोले, "मैं कोई नई बात तो कह नहीं रहा । हमारे दादे-परदादे कनकौए लड़ाकर बड़े-बड़े मसले तय कर लिया करते थे ।"

हमारी माँगें पूरी हों

कहते-कहते मेरी ज़बान थक गई, और तुम हो कि सुनते ही नहीं। न सुनो—मेरी बला से। आखिर मैं ही क्यों जी दुखाऊँ ? कौन तुम्हारे भले-बुरे का मैंने ठेका लिया है। काफ़ी कट गई, और थोड़ी बची है, वह भी रोए-धोए गुज़ार लूँगी। मेरा क्या ? आज मरूँ, कल दूसरा दिन। खैर मनाओ, मियाँ अपनी। जी नहीं मानता, तो कभी-कभार कुछ कह देती हूँ—वह भी महज़ बच्चों के खयाल से। पर तुम्हें क्या ? तुम्हारा तो जैसे उनसे कोई सरोकार ही नहीं। आगे-पीछे का तुम्हें रत्ती-भर खयाल नहीं।

चार दिन की चाँदनी है, हँस लो, कूद लो। फिर घूमना

जूतियाँ चटखाते। समझते हो, ज़िंदगी-भर चैंबर के मेंबर ही बने रहोगे। समझा करो। मेरी बला से। देखने को तुम भी ज़माने की रफ़्तार देखते हो। फिर भी आँखें बंद किए रहो, तो किसी का क्या क़ुसूर। मुझे तो रह-रहकर हुज़ूर की अक़्लमंदी पर रहम आता है। ज़रा-ज़रा-से परिंदे और नाचीज़ कीड़े-मकोड़े तक आड़े वक़्त का ख़याल करते हैं, और एक जनाब हैं—जैसे ज़िंदगी-भर शुतुर्मुर्ग़ बने रहने की क़सम खा चुके हैं।

लाख चीख़ूँ-चिल्लाऊँ—मगर तुम तो आदी हो गए हो सुनने के। हर वक़्त की काँव-काँव मुझे .ख़ुद अच्छी नहीं लगती, पर करूँ, तो क्या करूँ? प्यार से भी समझाया, ख़ुशामद से भी, लेकिन बेकार। भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती हूँ। तबियत नहीं मानती, तो कभी-कभार आधी बात कह देती हूँ। ऐसी बेख़ुदी भी आख़िर किस काम की। दुनिया .ख़ुदी-पसंद है, और तुम हो ऐसे .ख़ुदा-पसंद कि बात-बात में उसी की दुहाई देने लगते हो।

मैं पूछती हूँ, जब काम जनता का करते हो, तो खाओगे किसके सिर? अजब दस्तूर है लोगों का। श्रमदान-सिफ़ारिश से नमक-नौकरी तक हर काम के लिये बेरोक-टोक चले आएँगे। तुम्हें भी रस्मी उद्घाटनों और लेक्चरबाज़ी का ऐसा चस्का पड़ा है कि ज़रा-सी वाहवाही के लिये न दिन देखते हो न रात—चल देते हो मुँह उठाए। जहाँ बात आई पैसे-टकों की, वहाँ न तुमसे कुछ करते बनता है, और पब्लिक को तो जानते ही हो—सिरफिरी, बिला वजह जली-भुनी जाती है।

जिसे देखती हूँ, वही अपनी माँगों का हंगामा उठाए घूम रहा है—क्या छोटा, क्या बड़ा। बात भी ठीक है। बिना रोए माँ भी

दूध कहाँ पिलाती है। एक तुम लोग हो, देस-दुनिया का रोना रोओगे, और अपने लिये खुलकर आधी बात नहीं कह सकते। वरना जहाँ नौकरशाही के सफ़ेद हाथियों और देश-भक्त 'मनिस्टरों' के टीए-डीए में करोड़ों खर्च होते हैं, वहाँ तुम लोगों के लिये कौन टोटा है—विरोधियों का क्या, वह तो हर हालत में कीचड़ उछालेंगे ही। पर असल सवाल पैसों का नहीं, अक़ल और तिकड़म का है। वे सोचते हैं दूर की, और तुम्हारा हाल यह है कि आज खा लो, कल के लिये ख़ुदा हाफ़िज़।

भला बताओ, आँधी के आम क्या रोज़-रोज़ मिलते हैं? बने रहो बुद्धू। रोना पड़ेगा, तब रो लेना। अभी तो हरा-हरा सूझ रहा है। समझते हो, हमेशा ही राजा बने रहोगे। दुनिया की तरफ़ से बेख़बर हो। देखते नहीं, कल जो शाहंशाह बने घूमते थे, आज उन्हीं के ताज धूल में लुढ़क रहे हैं। ज्यादा कहूँ, तो बड़े-बड़ों के नाम की दुहाई देने लगते हो। सोचो तो, उनका और तुम्हारा क्या मुक़ाबला? वे सयासत में भी रियासत बनाने की जुरंत रखते हैं, और तुम्हें जैसे पैसा काटता है।

गुटबंदी का ही शौक़ रखते हो, तो क्यों, अगुआ बनके रहो। इस पिछलग्गूपन में क्या धरा है। इस रफ़्तार से तो न 'मनिस्टर' हो सकते हो, न 'सफासचिव'। यही क्यों, कमेटियों की मेंबरी भी तो हँसी-खेल नहीं है। सच पूछो, तो असल चीज़ वही है, वरना ऐरे-ग़ैरे हाथ-उठावाओं को कौन पूछता है। ख़ुदा का लाख-लाख शुक्र है, जो जनाब ऐसे मुल्क में पैदा हुए हैं, जहाँ अहमक़-से-अहमक़ भी बात-की-बात में चवन्निया रसीद कटाते ही, रियाया के दर्जे से उठकर लीडर और हुकुमराँ बन जाता है।

हमारी माँगें पूरी हों

इस नायाब मौक़े से फ़ायदा उठाना चाहो, तो क्या मुश्किन नहीं है। अल्लाह ने तुम्हें बित्ते-भर का मुँह दिया, हाथ-भर की ज़बान और औंधी खोपड़ी अता फ़रमाई—भला बताओ, वह किस-लिये ? ज़ाहिर है, हर रोज़ नए-नए जाल-बट्टे करने और काग़ज़ी स्कीमों में हाथ की सफ़ाई दिखाने के लिये। अब इतने पर भी कुछ न करो, तो कोई क्या करे।

हाउस में घंटों चीखते हो। मुँहजली पबलिक के लिये मरे-मिटे जाते हो। जाहिल किसान मज़दूरों का दिमाग़ ख़राब करने, बिल-पर-बिल पास कर डालते हो—और अपने लिये, बस, कुछ न पूछो। जैसे मुँह में ज़बान ही नहीं है। आधी बात कहते शरम लगती है। रोज़ ही देखते हो, सब-के-सब फ़सली देश-भक्त कुछ-न-कुछ जुगाड़ किए रहते हैं, और एक तुम हो—चंदे के चंद पैसों और दलाली के ज़लील पेशे पर ही सब्र किए बैठे हो।

जनता थूकती है, थूका करे। अख़बार कीचड़ उछालते हैं, उछाला करें, तुम्हें क्या। न जनाब के माथे पर शिकन, न मुँह पर ग़ुस्सा। और, वैसी ही बेहया-बेग़ैरत-[illegible] पार्टी है हुज़ूर की। इस [illegible] के मेंबर भी तो ऐसे हैं, जो चिकने घड़े को मात करते हैं। भला, फिर आप लोग ही [illegible] और [illegible]-कशी से कैसे बाज़ आ जाएँ, जब खुद क़ानून ने ही छूट-[illegible] दे रक्खी है। अजी साहबो, प्रेस और [illegible] के मुँह में लगाम लगानी है, तो ज़रा सख़्ती से काम लो। जी तो चाहता है, कमबख़्तों की ज़बान खिंचवा लूँ। इसलिये कहती हूँ, इसके लिये कोई 'प्रीवेंटिव' क़ानून बना डालो, रोज़-रोज़ की फ़जीहत ख़तम हो।

तुम कहते हो कि धीरे-धीरे थककर चुप हो जायँगे—मैं कहती

हूँ, इनके सब्र का घड़ा भर चुका है। याद रखना, सोई बग़ावत जब जाग उठती है, तो फिर थमना नहीं जानती। मेरी नाचीज़ राय में तो ऐसा क़ानून ऐलाने-आज़ादी के साथ-साथ ही लागू हो जाना चाहिए था। पर ख़ैर! देर आयद, दुरुस्त आयद। तब न सही, अब सही। फिर देखूँ, कौन तुम और तुम्हारे साथियों पर हँसता है। बख़ुदा कहती हूँ, क़ानूनी शिकंजे में फँसकर अच्छे-अच्छे नक्कुओं की बोलती बंद हो जायगी। और जब एक दफ़ा ये रक़ीब हत्थे चढ़ गए, तो आगे से चूँ भी न करेंगे। यक़ीनन् इसका असर इलेक्शन पर भी पड़ेगा, और तुम्हें स्याह-सफ़ेद करने की और भी छूट मिल जायगी।

एक बात और सुझा दूँ, और वह यह कि ऐसा क़ानून समूचे मुल्क और तमाम दूतावासों पर लागू होना चाहिए। बाहरी मुमालिक की तरफ़ से अगर कोई हरकत हो, तो बैनुल अक़वामी ढंग से उसका इलाज आसान है। इस क़ानून का मक़सद हो पार्टी की हिफ़ाज़त, और पार्टी से मतलब हो पार्टी इन पावर।

रहा मेंबरों का सवाल। उसके लिये हर वह आदमी, जिसने चवन्नी का टिकट कटाया है, पार्टी मेंबरी का हक़दार होगा, बिला इस लिहाज़ के कि पार्टी में शरीक होने से पहले वह पुलिस का दलाल था या नाजायज़ शराब-फ़रोश—ज़ालिम ज़मींदार था या चोरबाज़ारिया। नए मेंबर के लिये चोला बदलना निहायत ज़रूरी होना चाहिए, क्योंकि दूधिया वस्त्रों में अंदर की कालौंच काफ़ी ढक जाती है। अच्छे और 'कर्मठ' मेंबर का मतलब उस शख़्स से हो, जो सज़ायाफ़्ता है, बिला इस लिहाज़ के कि उसे किस जुर्म के मातहत सज़ा हुई। और जहाँ मफ़ात हासिल करने का

सवाल हो, वहाँ मेंबरों के भाई-भतीजे-भांजे, बेटे-दामाद और क़रीबी रिश्तेदार भी मेंबरों की फ़ेहरिस्त में शुमार कर लिए जायँ।

तुम लामुहाला पूछोगे कि, "भाई, मेंबर और ग़ैरमेंबर की शिनाख्त कैसे होगी?" भला, यह कौन मुश्किल काम है। अव्वल तो मेंबर की पोशाक ही उसका सायनबोर्ड होगी। दूसरे, यह कि मेंबर की बातचीत का लहजा, बोलने का ढंग, हाथ नचाने का अंदाज़, पैर पटकने का तर्ज़ोतरीक़ा ऐसा होगा, जिससे देखने-सुननेवाले को यह पता चले कि यह साहब लेक्चर दे रहे हैं। तीसरे यह कि मेंबर की बातचीत में बड़े-बड़े आदमियों के नाम, पिछली मुलाक़ातों के तज़करे और उनसे आगे मिलने का ज़िकर ज़रूर होगा।

रेल के सफ़र में मेंबर की शिनाख्त और भी आसान समझिए। मसलन् अगर कोई साहब पूरी बर्थ पर टाँगें पसारे पड़े हों, और दीगर मुसाफ़िर-औरतें-बच्चे खड़े-खड़े जगह की तंगी को रो-झींक रहे हों, तो यक़ीनन् वह साहब मेंबर होंगे। राशन की दूकान, बस, डाकख़ाने या टिकट-घर में जहाँ भी क्यू का दस्तूर है, वहाँ जो भी साहब धड़ल्ले से क्यू तोड़ते नज़र आएँ, समझ लीजिए, वह भी मेंबर हैं। जलसे और समारोहों में जिन हज़रत के साथ लंबा-चौड़ा काफ़िला हो, या जो महिलाओं को खड़ा देखकर भी पहली क़तार के सोफ़ों से न उठें—बिला शक उन्हें भी मेंबर ही नहीं, पुराना मेंबर समझिए।

क़ुदरतन् तुम यह जानना चाहोगे कि आख़िर पार्टी की बह-बूदी और बेहतरी के लिये क़ानून क्या करे। मैं पूछती हूँ, क़ानून से क्या नहीं हो सकता? यह बात तुम्हारे ज़हन में आए या न आए,

मेरी नाचीज़ राय में तो पार्टी मेंबरान को कुछ अख्त्यारात और रियायतें दी जानी चाहिए, ताकि पार्टी मज़बूत हो। जब पार्टी मज़-बूत होगी, तो सरकार भी टिकाऊ होगी।

मेंबर को ये हुक़ूक़ हासिल होने से पार्टी और पार्टी के प्रोग्राम में दिलचस्पी होगी, और वह मरते वक़्त तक पार्टी से चिपका रहेगा। पार्टी में जिस नए ख़ून की कमी है, वह बेतादाद आएगा। मुख्तसर में पार्टी और पार्टी के मेंबर लंबे अर्से तक, बिना किसी झगड़े-फ़साद-खींचतान या पसोपेश के निर्द्वंद होकर मुल्की तामीर का बेड़ा पार कर सकेंगे।

ले-देकर मेरे कहने का मतलब यह है कि पार्टी के हर मेंबर को तमाम सरकारी इमारतों, स्थानों या दफ़्तरों में जहाँ जाने की मुमानियत है, या जहाँ जाने से पहले इजाज़त ज़रूरी है, बिला रोक-टोक, वक़्त-बेवक़्त आने-जाने की आज़ादी हो। उसे यह भी हक़ हासिल हो कि हर छोटे-बड़े हाकिम-हुक्काम से पहले से इजाज़त लिए बग़ैर मिल सके। हुकूमत के हर काम की तफ़सील जान सके, और जहाँ मुनासिब समझे, सरकारी कामों में दस्तंदाज़ी कर सके।

दूसरा ज़रूरी मसला है जनसंपर्क का। इसके लिये मेंबर को सफ़र-सवारी-पासपोर्ट वग़ैरह की हर मुम्किन सुविधा दी जाय। यानी वह जब, जहाँ, जितनी देर चाहे सार्वजनिक बसों को रोक सके और बिला टिकट जहाँ चाहे ले जा सके। मेंबरी की चवन्निया रसीद दिखाकर रोडवेज़ की टैक्सियों पर मुफ़्त में सवारी गाँठ सके। स्पेशल ट्रेनें चलवाने के अलावा मेंबर को यह भी अधिकार हो कि वह, ज़रूरत होने पर ट्रेनों को चार-छः घंटे लेट करा सके या मुक़र्रर वक़्त से पहले ही छुड़वा दे। सूबा और आल इंडिया कमेटी के बड़े

ओहदेदारों को हवाई जहाज़ों में इसी तरह की रियायतें और छूट-पट्टी होनी चाहिए, ताकि वे पार्टी के प्रोग्राम यानी हुकूमत की पॉलिसीज़ को बाआसानी चला सकें।

इतना कह देने के बाद इस पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं रह जाती कि पार्टी के मेंबरों की माली हालत सुधारना कितना ज़रूरी है। चुनाँचे इसके लिये भी हर मुम्किन, जा-बेजा तरीक़ा काम में लाया जाय। यह तो तुम निजी तजुर्बे से समझ ही सकते हो कि खान-पान, रहन-सहन की सुविधाओं और इक्तसादी बेफ़िक्री से आदमी के काम करने की ताक़त बढ़ती है। इसलिये अगर मेंबर जनता का बेड़ा पार करने का बीड़ा उठाते हैं, तो उनका उसूलन् यह हक़ हो जाता है कि अपने खर्चे के लिये जनता की जेब टटोलें।

यही सोचकर हर मेंबर के जेब-खर्च के लिये कम-अज़-कम पाँच हज़ार रुपए माहवार की माँग होनी चाहिए। मेंबरों के रहने के लिये सरकारी खर्चे से शानदार 'ऐयर कंडीशंड' इमारतें बननी चाहिए, क्योंकि इनसे बाहरी देशों में मुल्क की इज़्ज़त बढ़ेगी। मेंबर को यह भी छूट होनी चाहिए कि वह चुनाव के अलावा दीगर मौक़ों पर भी सरकारी सामान—मसलन् टेलीफ़ोन-सवारी 'रेस्ट हाउसेज़' और सरकारी अमले को काम में ला सके, और इसके साथ ही उसे खर्चे की ज़िम्मेवारी से बरी रक्खा जाय।

अब सवाल पैदा होता है मेंबर और उसके भाई-भतीजे-भांजे और दोस्त-अहबाबों का। अखलाक़न इनकी ज़िम्मेदारी क़ौम को अपने सिर ओढ़नी चाहिए। इनके लिये तमाम गज़टेड और माक़ूल आमदनी की जगहें रिज़र्व रहनी चाहिए। बल्कि मेरा तो ख़याल है, तमाम सरकारी ठेके, टेंडर और

यहाँ तक कि रेडियो-कांट्रेक्ट भी उन्हीं लोगों को दिए जायँ, जो मेंबर के खास दोस्त या क़रीबी रिश्तेदार हों। इन तमाम कामों के लिये कुल रक़म पेशगी दी जानी चाहिए और हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल में ऑडीटरों को परेशान करने के बजाय मेंबर महोदय की सनद काफ़ी मान ली जाय।

मेंबरों की सुरक्षा मुल्क की हिफ़ाज़त से भी ज्यादा अहम समझी जानी चाहिए। और इसके लिये हर मेंबर को वी०आई०पी० मानकर उसके जानोमाल की पूरी-पूरी हिफ़ाज़त होनी चाहिए। यानी मेंबर के मकान पर संगीनी पहरा और मेंबर की अपनी 'सेफ़टी' के लिये पिस्तौल अर्दली का माक़ूल इंतज़ाम होना चाहिए।

लेकिन इसके बावजूद भी यह मुम्किन हो सकता है कि मेंबर किसी 'पेनल' या 'मौरल' जुर्म में फँस जाय। लिहाज़ा, बतौर ऐतिहात, मैं इतना और जोड़ देना चाहती हूँ कि मेंबर को किसी भी हालत में गिरफ़्तार न किया जाय—न मेंबर की तलाशी ली जाय, और न उस पर मुक़दमा ही चलाया जाय। मेंबरी की रसीद दिखाने और महज़ यह कहने पर कि ये काम जन-हित के लिये किए गये थे, मेंबर संगीन-से-संगीन जुर्म कर गुज़रने पर क़ानून की पाबंदियों से बरी किया जाय।

मैं जानती हूँ, मेरी बातें चाहे लाख रुपए की हों, पर तुम्हारी मोटे कपड़ों-सी मोटी अक़ल में मुश्किल से ही धँसती हैं। याद रखना, ये बातें ऐसी नहीं हैं, जिन्हें एक कान से सुनो, दूसरे से निकाल दो। म्याँ, मैं कहती हूँ, अपने साथियों से तज़करा छेड़के तो देखो—सब-के-सब तुम्हारी सूझ-बूझ की दाद न दें, तो कहना। और जब जनता के नुमाइंदे ही इस पंचसाला योजना से

हमराय हो जायँ, तो टीका-टिप्पणी, कहा-सुनी या आलोचना की गुंजायश ही कहाँ रह जाती है।

जो भी हो, मेरा खुद का क्या ? न सावन सूखी, न भादों हरी। हमेशा से पापड़ बेलती आई हूँ, आज भी क़िस्मत को रो रही हूँ। तब तुम पुलिस को इत्तिला देकर जेल चले जाते थे और अब सारी-सारी रात, सारे-सारे दिन लेक्चर देते घूमते हो। उस ज़माने में चंदे के पैसों को मुहताज रहना पड़ता था और अब.........कहते भी तो शरम आती है। हाँ, फ़रक़ है, तो इतना कि तब लोग जय बोलते थे और अब.......। मुझे तो यही सदमा खाए जाता है। इसीलिये कहती हूँ कि तुम एक बार ही हंगामा उठा दो 'हमारी माँगों' का।

चंद तस्वीरे बुताँ

बरसों लखनऊ की खाक छानी—चौक, नख्खास और गवर्नमेंट हाउस से लेकर मुकारिबनगर तक चप्पा-चप्पा ज़मीन रौंद डाली ! कौंसिल हाउस का ज़िंदा और बेलीगारद का मुर्दा अजायबघर देखा। दारुलशफ़ा में लीडर और सिटी कोर्ट कचहरी के अहाते में प्लीडर देखे। आकासबानी के आर्टिस्ट और आदर्श थानों के जय-हिंदी दीवान-दरोग़ाओं से मुलाक़ात हुई। मुंशी से मुहर्रिर तक सब की लीलाएँ देखकर सोचने लगे कि अब देखने-सुनने को इक्के-रिक्शेवालों की तू-तू मैं-मैं के अलावा लखनऊ में मिठास या नफ़ासत नाम की कोई चीज़ बाक़ी नहीं रही।

लेकिन अपना यह अंदाज़ एकदम ग़लत और बेबुनियाद साबित हुआ। दिल के दौरे ने जहाँ तबाही और बरबादी के हज़ार सामान मुहय्या किए, वहाँ सुकून की बात हुई, तो महज़ यह कि हमें जनरल वार्ड की नई इमारत में एक चारपाई मयस्सर हो गई। आप कहेंगे, "भई वाह! इसमें सुकून की कौन-सी बात हुई?" लीजिए, सुनिए। सुकून की बात यह है कि हफ़्ते-भर शामीना साहब के चक्कर काटने के बाद हम एडमिट कर लिए गए—और वह भी जनरल वार्ड के कबूतरखाने में। ख़ुदा वज़ीरे-सेहत, डॉक्टर साहबान को—जिनमें उस्ताद, शागिर्द, अफ़लातून और घनचक्कर, सभी शामिल हैं—स्वस्थ-सलामत रक्खे। इनकी मेहरबानी से हमें एक नई दुनिया का दीदार ही नहीं हुआ—बल्कि 'नंबर चार' का एक तख़ल्लुस भी मिल गया।

इस तख़ल्लुस या टायटिल की भी अपनी दास्तान है—निहायत हसीन, ख़ुशगवार और मुअस्सर। 'ए' पर पूरी झोंक देकर जब वह फ़ौजी कमान के लहजे में कहतीं 'ए चार नंबर!' तो हमारी साँस और दिल की धड़कनें, दोनो घड़ी-भर को रुक जातीं। धीरे-धीरे हम इसके आदी हो गए। उन्होंने जहाँ कहा, 'ए चार नंबर!' और हम आटोमैटिक मशीन की तरह बोल उठते, 'जी, मिस साहब!'

ख़ुशक़िस्मती ही समझिए कि हमें चार नंबर मिला है। मान लीजिए, वह हमें नौ-दस या चार सौ बीस कहने लगतीं, तभी हम क्या कर लेते। ज़्यादा चीं-चपड़ करते, तो और फ़ज़ीहत कराते। जनरल वार्ड के देहाती क्या समझें कि वह ज़ाब्ता फ़ौजदारी या ताज़ीरात हिंद की कोई दफ़ा न होकर हमारे पलंग का नंबर है। तो

ख़ैर ! इस तरह अपनी एक जुग-जुग पुरानी मुराद पूरी हो गई। मुराद थी दरे-दौलत पर नेम प्लेट लगवाने की। मनों काग़ज़ रँग डाला—दर्जनों किताबें और सैकड़ों अफ़साने लिख डाले, पर फिर भी अपने 'कार्टून-भवन' पर ख़ानाबदोश का सायनबोर्ड न लग सका। वह कमी—चलिए, यहाँ आकर पूरी हो गई।

दाख़िले के लिये जिस वक्त हम यहाँ गिरते-पड़ते आए, बग़ल में रजिस्टर थमाए एक अर्दली साहब साथ थे। ख़याल था कि यहाँ के फटे हालों में कम फटेहाल, अँगूठा-टेकों के बीच साक्षर और 'प्रोलोतारियत' के बीच 'बुर्जआ' होने के सबब से 'वी० आई० पी०' समझे जायँगे। हुआ इसका एकदम उल्टा। "ख़ानाबदोश कौन है ?" मिस साहबा ने अपने पंजाबी लहजे पर अँगरेज़ी का मुलम्मा चढ़ाते हुए कहा।

"जी, फ़रमाइए ?" हमने बाअदब अर्ज़ किया।

"तुम्हारा क्या शिकायत है ? देखने में अटकट्टा है !" उन्होंने राय ज़ाहिर की।

"जी !" हमने ताज्जुब से कहा, "हार्ट पलपिटेट करता है।"

"क्या बात है ?" हमारी आँखों में आँखें डालती हुई बोलीं, "सारा स्टूडेंट्स इसी का मरीज़ हो गया है !"

"पता नहीं सिस्टर !" हमने मासूमियत से कहा।

"हम आपको एडमिट नए कर सकता !" मौत की-सी सज़ा सुनाती हुई बोलीं, "स्टूडेंट्स यहाँ से भाग जाते हैं। समझा ?"

भला बताइए, अब हम अपनी सफ़ाई दें कि हंडिया भरे 'स्टूडेंट्स' की। मुचलके का दस्तूर यहाँ है नहीं। ज़मानत दें, तो

किसकी ? अजीब परेशानी। सच पूछिए, तो हमें बड़ी हीनता अनुभव हुई। काश हम भी किसी ऑनरेबुल के बहनोई-दामाद हुए होते, तो क्यों भरे वार्ड में यह ज़िल्लत और तौहीन का बोझा ढोते।

एहसान का गर्दन-तोड़ बोझा लादते हुए उन्होंने काग़ज़ी कोटा पूरा किया, और हम उसी मिनट से बाज़ाब्ता नंबर चार हो गए। मुराद यह कि मिस साहबा की वह घुड़की महज़ एक अदा थी। अदा ही क्यों; मुम्किन है, 'शाक ट्रीटमैंट' की कोई क़िस्म हो। हम तो पहले ही झटके में ढीले हो गए। अकड़फूँ जाती रही, और म्याऊँ बनकर पलँग की राह ली।

उसके बाद से हम मुकम्मल नज़रबंद हो गए। जिस नर-मादा मुच्छड़ या मुछमुंड को देखिए, वही लुक़मान के अंदाज़ में चला आ रहा है। कोई मुर्गे की तरह सीना निकाले—कोई चीते की तरह चुन-चुनकर क़दम रखता हुआ—कोई छोटी-छोटी आँखों में लंबे-चौड़े वार्ड का लेखा-जोखा लेता। कोई टाई का नाट सँभालता और कोई स्थैटिसकोप का चेस्टपीस उछालता।

सबेरे और शाम वार्ड की नीरस और दर्द-भरी चहारदीवारी में चहल-पहल का एक झोंका-सा आता और उस माहौल में हमें लगता, जैसे हम टिंबकटू के अजायबघर में आ फँसे हों। लुत्फ़ तो यह था कि हमें यहाँ डबुल रोल अदा करना पड़ता था। हम समझते थे अपने को तमाशबीन, और डॉक्टर साहबान हमें तसव्वुर करते थे भेड़िया बालक रामू का ही दूसरा संस्करण।

दर हक़ीक़त बात भी यही थी। हमारी और रामू की अलामातें बहुत कुछ यकसां थीं। रामू साहब को पका हुआ

खाना अच्छा नहीं लगता, और हमारी जान मार रक्खी है इस लौकी की सब्ज़ी, मूँग की दाल और दलिया ने। रामू साहब आदम की शकल से घबराते हैं, और हमारी रूह फ़ना होती है इन डॉक्टरों को देखकर। शौक़ भी हमारे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। मसलन् रामू साहब को कुत्ते सुहाते हैं, और हमारी बाँछें खिल उठती हैं तब, जब कोई मिस साहबा हमारे पलँग से सटकर हाले-दिल पूछती हैं।

अब आइए तफ़शीश यानी डायग्नोसिस पर। रामू की तरह हमारी भी तकलीफ़ काफ़ी झगड़ेतलब है। कौन जाने, सोहबत और फ़िज़ाँ का असर है या दिमाग़ी फ़ितूर ! चाहे जो हो—बदनसीबी है, तो यह कि हमसे मुलाक़ात के लिये न टिकट लगता है, और न हमारे नाम पर कोई फ़ंड इकट्ठा होता है। अब तक न कोई अख़बारनवीस हमसे मिलने आया और न किसी अमेरिकन युवती ने ही प्रणय-पत्रिका भेजने की ज़हमत उठाई।

यह सब होते हुए भी हम रामू साहब से कहीं ज़्यादा बेकस और बेदाद हैं। हमारे 'इंपल्स' जैसे कोई मानी ही नहीं रखते। वार्ड में बीड़ी-सिगरेट पी नहीं सकते—बाहर जाने की इजाज़त नहीं। सोने-जागने, उठने-बैठने हर बात पर कड़ी नज़र रक्खी जाती है, जैसे हम कोई डिटेनू हों। बिना इजाज़त कोई मुलाक़ाती या मुलाक़ातिन हमसे मिल नहीं सकती। रात को देर तक जागते रहें, तो सिस्टर हर पंद्रह मिनट पर जवाब तलब करती हैं, "तुमको नींद नहीं आता !" लीजिए, अब इन्हें समझाइए। आँखें खुली हैं, करवटें बदल रहे हैं, मगर इन्हें यक़ीन कहाँ !

सोने का ढोंग न करें, तो अपना ठेला लुढ़काती सीने पर आ सवार होंगी, और फिर कड़ुवाहट का एक और घूँट हमारे हलक़ में उड़ेल दिया जायगा।

यही परेशानी हमें अपने डॉक्टर दोस्तों से भी है। दिन-भर की हालत—बीमारी की हिस्ट्री और सात पुश्त का रोज़नामचा पेश कीजिए। मुँह खोलो, ज़ुबान निकालो, हाथ ऊँचा करो, पैर फैलाओ, ज़ोर-ज़ोर से साँस लो, 'आ-आ-आ' करो, दाँत दिखाओ, गिनती गिनो—एक हुकुम हो, तो खैर सल्लाह। क़वायद न हुई, जानलेवा हो गई। पेट, पीठ, भीतर-बाहर, सब कहीं देखेंगे, जैसे हमने देशी रिवाल्वरें, हथगोले और कम्युनिस्ट-साहित्य छिपा रक्खा हो। लहू का नमूना जब से लिया गया है, तब से हमारी परेशानी और भी बढ़ गई है। क़िस्मत का खेल देखिए—खून की रंगत भी लाल निकली है। हम तो डरते हैं, कहीं ये भलेमानुस 'रेड' होने का फ़तवा न दे दें।

हमारे मालिक हैं कि मज़ाक़? माई-बाप, ईसा-मसीहा, सब कुछ हैं। ज़िंदगी और मौत इन्हीं के हाथ है! ख़ुदा जाने, मृत्यु और जीवन के पालने में कब तक झुलाते रहेंगे। एक चले जायँगे, तो दूसरे हाथ साफ़ करेंगे। हम चले जायँगे, तो इन्हें मरीज़ों का क्या टोटा, क्योंकि इस मामले में अपना समस्त सत्ता-संपन्न गणराज्य क़ाफ़ी भरा-पूरा है।

अब यहाँ-से जाकर हमारा क्या होगा, यह तो हम नहीं जानते, मगर इनके लिये पेशीनगोई किए देते हैं कि इनमें से ज़्यादातर घनी आबादी के शहरों में अपने-अपने खोंचे लगाए मक्खियाँ उड़ाया करेंगे। कुछ हैं, जो सरकारी अस्पतालों में

'एक्वा डिस्टिल्लाटा' पिला-पिलाकर पहली तारीख़ के इंतज़ार में वक़्त और प्रायवेट प्रैक्टिस की जेबतराशी में उम्र गुज़ारेंगे। कुछ को जहाँ सूट की धुलाई और टीमटाम का ख़र्चा निकालना दुश्वार हो जायगा, वहीं कुछ ऐसे भी निकलेंगे, जो दो-चार पुश्त के लिये ऐशो-इशरत का सामान मुहइया कर जायँगे। इक्के-दुक्के लेक्चरार होकर चाँदी काटेंगे। देहातों की गंदगी और ग़रीबी में पतलून की क्रीज़ ख़राब करने—कौन ख़ुदा का बंदा जायगा, यह हमें नहीं मालूम।

ये महात्मा अब और आगे चाहे जो करें, हमें क्या ? क्यों बिला वजह भेजा खरोंचें ? बहैसियत एक स्टूडेंट हमें सयासत से क्या लेना-देना। हम तो स्वास्थ्य-मंत्रीजी की स्पीच के क़ायल हैं। मिट्टी के शेर ने आँकड़ों से साबित कर दिखाया कि लोग कम बीमार होते हैं, कम मरते हैं। यह कि हमारे अस्पताल जन्नत हैं और डॉक्टर लोग फ़रिश्ते। बड़ी भारी अक्सरियत ने हाथ उठा-उठाकर, गले फाड़कर मंत्रीजी का समर्थन कर दिया। अब इतने पर भी कोई न माने, तो क्या इलाज ? वरना वज़ीरे-सेहत की सेहत ही चीख़-चीख़कर अवामी सेहत की दाद देती है।

चुनाँचे हमें फ़िकर है, तो महज़ एक, और वह यह कि अगर सेहत का यही हाल चलता रहा, तो ग़ल्ले और मकानों की क़िल्लत कहीं बेक़ाबू न हो जाय। आप कहेंगे, क़ाज़ी साहब, आप क्यों बिला वजह दुबले हुए जाते हैं, जब वज़ीरे-अकाल और बीमारी के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। बजा है बंदापरवर, हमारा और उनका क्या मुक़ाबला। सात पुश्त कोशिश करें, तो भी रहेंगे ख़ानाबदोश-के-ख़ानाबदोश। दिन-रात मालिश कराएँ

या अगले जनम भी कुँआरे रहने की हलफ़ उठा लें, हम कभी ऑनरेबुल न हो पाएँगे। झींकने की आदत है, झींकते रहेंगे—कभी सोशल ऑर्डर को और कभी चंद अशखास को। दिल नहीं मानता, तो कभी-कभार थोड़ी-सी छींटेकशी कर देते हैं—वरना पर्सनली हमें किसी से क्या शिकायत हो सकती है।

मिसाल के लिये वार्डबाय साहबान को ले लीजिए। अफ़सरों में इनकी गिनती नहीं। तालीम के नुक्तेनज़र से निल हैं। दो वक़्त ख़ुश्क रोटी और राहत का एक लहमा इन्हें नसीब नहीं। छोटे-बड़े हर किसी के 'मोस्ट ओबीडिएंट सर्वेंट'—शक्ल-सूरत, रहन-सहन, हर तरफ़ से फटीचर। मरीज़ों की खिदमत अंजाम देते-देते बुड्ढे हो जायँगे, मगर फिर भी कहलाएँगे 'वार्ड-बाय' ही।

अजीब आलम है इन बुज़ुर्गों का। अफ़सर की मौजूदगी में फ़रमाबरदारी की मूरत नज़र आते हैं, और मौका लगते ही ऐसे किनाराकश होते हैं, जैसे कालकोठरी से निकल भागे हों। मसलन् मरीज़ सिस्टर की नाक में दम किए हैं, सिस्टर वार्डबाय को रो रही है—और 'बाटबाई' साहब चुप्पी साधे बरांडे में बीड़ी धौंक रहे हैं।

नज़र न पड़े, तो खैर सल्लाह। पकड़े गए तो खड़े हैं सिस्टर के इजलास में गर्दन झुकाए, जैसे किसी संगीन जुर्म में रँगे हाथों पकड़े गए हों। इस अदालत में आप समझिए, सरसरी यानी समरी ट्रायल्स का दस्तूर है। सफ़ाई दी, तो खैर नहीं। डाट-फटकार से आगे नौबत नहीं पहुँचती, और बाटबाई सा[illegible]ब मन-ही-मन ख़ुश होते फिर पुराने ढर्रे पर आ जाते हैं।

बाटवाई साहब का यह रवैया नया नहीं—बरसों पुराना है—शायद उतना ही, जितनी उनकी टोटल सर्विस। लीचड़पन उनकी आदत में शुमार है। अक़्ल का दिवालियापन उनकी पुश्तैनी विरासत है। लिहाज़ा उनसे यही उम्मीद की जाती है कि वह हुकुम की पाबंदी के अलावा कहीं भी अक़्ल ज़ाया न करेंगे। क्योंकि ऐसे 'इनीशिएटिव' कभी-कभी बड़े नुक़सानदेह साबित हो सकते हैं, ख़ुसूसन् दवा-दारू के मामले में।

लेकिन यह सब होते हुए भी बाटवाई या जमादार साहबान से हमें कोई गिला, कोई शिकवा-शिकायत नहीं। शिकायत है, तो उनसे, जो महज़ लेक्चरों से इनकी भूख मिटाना चाहते हैं। इनकी मजबूरियों से फ़ायदा उठाकर इन मेहनतकशों को कोल्हू का बैल बनाने पर तुले हुए हैं। भला, बताइए, बारह घंटे की ड्यूटी और उस पर यह दाब-धौंस! दर असल हमें शिकायत है, तो उस सयासी-समाजी और इक़्तसादी निज़ाम से, जिसने इनकी बेहतरी और बह-बूदी के तमाम दरवाज़े बंद कर रक्खे हैं।

जिसे देखिए, वही इनका आक़ा बना घूमता है। "निबल की लुगाई, सारे गाँव की भौजाई" वाली मसल है। दुनिया-भर को हुज़ूर-हुज़ूर कहें—हर सफ़ेदपोश को सलामियाँ झुकाएँ, और उस पर आलम यह कि बेहूदा-नालायक़-निकम्मा और बदतमीज़-जैसी हज़ा-रहा सनदों के बोझ से दबते चले जायँ।

सिर पर छटनी की छुरी और दिलों में बेबसी की आग लिए, जब-तब, 'यह सरकार निकम्मी है', 'बाटबाय के तीन सवाल—रोटी, रोज़ी और मकान' के नारे भी लगाते हैं; मगर नतीजा चंद प्रस्तावों के अलावा कुछ भी नहीं। इतने पर भी इन पंचों का

हौसला देखिए—कहते हैं, "भैया! यह ऊनीवरसिटी अइसन काली माई है, जउन बिना बलि लिए नाहिंन पसीजति।"

लेकिन हमें इनसे क्या। आज अस्पताल छोड़ें, कल दूसरा दिन। आप ही बताइए, कौन किसे याद रखता है, दुनिया के इस मुसाफ़िरखाने में? रह जाते हैं, तो चंद हसीन चेहरे—कुछ मीठी और कुछ कड़ुवी यादें। इस लिहाज़ से अपना मर्ज़ और इलाज, दोनों ही काफ़ी दिलचस्प हैं। दिलचस्प इसलिये कि यहाँ के तीमारदारों में हमें ऐसे-ऐसे चलते-फिरते कार्टून देखने को मिले हैं, जो पंच और शंकर्स वीकली के व्यंग्य चित्रों से कहीं ज़्यादा जानदार हैं।

इनमें आपको ठेठ चीनी से लेकर अफ्रिकन तक दुनिया की हर नसल का नमूना मिल जायगा। पोशाक के ख़्याल से यूनीफ़ार्मिटी यानी एकरूपता ज़रूर है, मगर हर चौखटे की अपनी-अपनी ख़ूबियाँ हैं। नाक-नक़्शा, सूरत-शकल, दिल-दिमाग़ सबका जुदा-जुदा। मुख्तसर में हम सिर्फ़ इतना ही कहेंगे कि इस अल्बम में अजंता और शांति-निकेतन के चित्रों से लेकर हरप्पा और मोहनजोदरो तक का हर नमूना मौजूद है।

कोई गाँठगोभी की तरह गोल-मटोल है, कोई लौकी की तरह लंबी। एक हैं, जो मरीज़ की निगाह उठते ही बतख़ की चाल चलने लगती हैं। दूसरी महज़ इसलिये कुढ़ा करती हैं कि उन्हें कोई 'लिफ़्ट' नहीं देता। एक हैं, जो हरवक़्त मुँह लटकाए रहेंगी। दूसरी हैं, जिन्होंने खीसें निकालने के अलावा शायद कुछ सीखा ही नहीं। तीसरी हैं, शकल-सूरत से मुकम्मल गुड़िया और चाल-ढाल से चाबीवाला खिलौना। वार्ड में जैसे इनका दम घुटता है—ख़ुदा जाने, किन मजबूरियों ने इस फ़ाख़्ता को ड्यूटी के पींजरे में क़ैद

कर दिया है। होने को एक हैं साड्डी सुदनेवाली पंजाबन बिरपी—दूसरी, काली कलकत्तेवाली। और इनके अलावा हैं कुछ नए रंगरूट। नई दुलहन की तरह मन-मन मुस्काते-सहमते-मदमाते घूमते रहेंगे। आधी बात पूछ लीजिए, तो गाल हो जायँगे जैसे सुर्ख टमाटर।

इसी तरह सबके अपने-अपने स्वर हैं। एक बोलती हैं सप्तम स्वर में, दूसरी नफ़ीरी को मात करती हैं। तीसरी हैं, जिन्हें इँग-लिस्तान की उपज कहना ही ज़्यादा मुनासिब होगा। ठेठ देहाती से आप पूछ बैठीं, "तुम्हारा टैंपरेचर रैकार्ड हो गया?" और मरीज़ महाशय बुग्घू की तरह मुँह फैलाए लगे बग़लें झाँकने।

"बोलता क्यों नहीं?" मिस साहबा नाक के सुर मिनमिनाईं।

"का सिस्टर?" मरीज़ साहब ने डरते-डरते सवाल किया।

"माई गाड!" टैंपरेचर-चार्ट पर नज़र डालते हुए, झल्ला-कर पूछ बैठीं, "और मिक्श्चर?"

"यही हमार बिस्तर है।" मरीज़ साहब ने बड़े इत्मीनान से कहा।

"हम पूछते हैं दवा, और तुम बोलता है............"

मिस साहबा की बात पूरी होने से पहले ही मरीज़ बाबू ने भेजा हिलाकर स्वीकृति दी, और कृतज्ञता से हाथ जोड़ दयनीयता का प्रदर्शन किया।

सिस्टर्स के अपने-अपने रोब-रुतबे हैं। कोई तीन फ़ीतेवाली हैं। कोई अकेली ही स्टॉफ़ कहलाती हैं। इन सबके ऊपर एक और हैं सिपेसालार। वार्ड में दाख़िल पीछे होंगी, पहले इनकी डाट-फटकार शुरू हो जायगी। इस तरह, अपने हुद्दे की विजय-दुंदुभी

बजाती जब यह तूफ़ान मेल की तरह धड़धड़ाती वार्ड में दाखिल होती हैं, तो यक़ीन जानिए, लगता है, जैसे भूचाल आ रहा हो। हम तो खैर हैं किस खेत की मूली, बड़े-बड़े तीसमारखाँ भी इनकी शकल देखते ही म्याऊँ बन जाते हैं। दर हक़ीक़त इनकी लाल पेटी ही खतरे की निशानी है।

अव्वल तो जिस झटके से यहाँ दरवाज़े खोलने और भड़ से छोड़ने का दस्तूर है, सोते से चौंका देने के लिये वही बहुत काफ़ी है। उस पर जब इन सिस्टर का हिस्टीरिया शुरू होता है, तो और भी मुसीबत हो जाती है। भिश्ती, बावर्ची और वार्डबॉय से लेकर हर छोटे-बड़ों को जहाँ कँपकँपी शुरू होती है, वहीं मरीज़ पड़ जाते हैं, गोया आँधी में गिरे दरख्त हों।

हमारी यह सिस्टर सचमुच ही बड़ी पुरलुत्फ़ हैं। इनका दौरा देखकर अजनबी के लिये यह समझना मुश्किल हो जाता है कि आया इनका काम तीमारदारी है या थानेदारी। मज़ा यह है कि बिना लाउडस्पीकर इस्तेमाल किए यह इतने ज़ोर से दहाड़ती हैं कि जिसकी इंतिहा। चार-छ मील के रक़बे और दस-बीस हज़ार के मजमे में इनका लेक्चर बाआसानी सुना जा सकता है। छोटे, बड़े, बुड्ढे और जवान—पढ़े-लिखे और नाख्वाँदे—इनके लिये सब धान बाईस पसेरी हैं।

उस दिन हमसे ही उलझ पड़ीं। डाँट रही थीं नब्जू, नादिर, होशियार और महावी मुलाज़मीन को। और लीजिए, नज़ला ढला हम पर। बिगड़ रही थीं वार्ड की सफ़ाई पर, और हाथ साफ़ हुआ हम-जैसे नाचीज़ पर।

"ए! कंबल कहाँ है इसका?" हमारी चारपाई पर नज़र

डालते हुए उन्होंने एक मुलाज़िम से जवाब तलब किया। लेकिन इससे पेश्तर कि मुलाज़िम साहब कुछ रोते-गाते, हमने बीच में पड़ते हुए मरी-सी आवाज़ में कहा, "रहने दीजिए सिस्टर। कंबल हमें न चाहिए।"

"चुप रहो।" उन्होंने धमकाया।

"लेकिन·······।" हम गिड़गिड़ाए।

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं", सिस्टर तमककर बोलीं, "यह जनरल वार्ड है।"

हुआ ले-देकर यह कि अस्पताल का भारी-भरकम कंबल हमारी आधी चारपाई पर क़रीने से सजा दिया गया। वार्ड की पूरी लंबाई में सिस्टर साहबा ने दो-तीन राउंड लिए। किसी को डाँट, किसी को लेक्चर और किसी को दवा पिलाई। फिर सहसा संतरी की तरह राइट-अबाउट टर्न हो, एक मरीज़ पर बरस पड़ीं, "यह धोती-बोती यहाँ नहीं चलेगा। वार्ड में रहना है, तो यहाँ का कपड़ा पहनो।"

यों पड़ी तेली पर आँखें खुल गईं तमोली की। सोचने लगे, कहीं चिकन का कुर्ता और डी बन के लट्ठे का पाजामा छोड़ हमें भी यह पिसवाज न पहननी पड़ जाय। क्या खूब पोशाक है यह भी! बिना कालर, बिना बटन की बुशशर्ट—आस्तीन न आधी न पूरी; आवारा कट और बिना क्रीज़ की पतलून—जिसकी लंबाई होती है घुटनों तक और बेल्ट के बजाय रहता है रस्सेनुमा कमरबंद। अच्छे-भले आदमी को पहना दीजिए, तो वनमानुस नज़र आने लगे।

शाम होते-होते, हर एक्सीलेंसी एक नया फ़रमान सुना गईं।

बोलीं, "या तो बाल ठीक से रखिए या इन्हें कटाइए—कल बड़े साहब का राउंड है।" यह सुनते ही हमारी पेशानी भीग गई। अग़ल-बग़ल और सामने झुटमुंड मरीज़ों पर नज़र पड़ी, तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे टिक गई। सारी रात इसी घबराहट में कटी। दिन निकले आँख खुली, तो बग़दादी ख़लीफ़ा यानी हज्जाम साहब सिरहाने खड़े उस्तरा पैना रहे थे। अब आपसे भी क्या छुपाएँ, हमें लगा, जैसे हमारी नाक कट गई। मजबूर होकर हमने बग़ावत का झंडा बुलंद किया और साफ़-साफ़ कह दिया कि साहब, हम सिर मुड़ाने से रहे। भला, बताइए, मिलने-जुलनेवाले जब रोनी सूरत बनाकर ख़ैराफ़ियत पूछते, तब क्या हम यह कहते कि हमारे वज़ीरे-सेहत (ख़ुदा न करे) दुनिया से कूच कर गए।

काफ़ी हीला-हुज्जत के बाद बला टली, और धीरे-धीरे हम समझ गए कि यह सिस्टर ऊपर से जितनी तुनकमिज़ाजिन हैं, दिल की उतनी ही साफ़—उदार और मेहरबान हैं! त्योरियाँ न बदलें या रोब-रुतबा न रक्खें, तो वार्ड बन जाय 'नक्खास'। दर असल उनका होना भी निहायत ज़रूरी है। वह न हों, तो उनके मातहतों को मुए मरीज़ भेड़-बकरी बनाकर हाँक दें।

आख़िर वह और उनकी फ़ौज-पल्टन ये साम-दाम, दंड-भेद, ग़ुस्से और प्यार के तर्ज़ोतरीक़े न बरतें, तो दूसरे ही दिन ग़दर और बदअमनी के हालात पैदा हो जायँ। बेचारी भैया, बाबा कहकर पुचकारती भी हैं। हँसते-हँसाते कड़ुवे-से-कड़ुवे घूँट गले से नीचे उतार देती हैं। लेकिन जब सीधी उँगलियों घी नहीं निकलता, तब उन्हें दीगर तरीक़े लामुहाला बरतने पड़ते हैं। यों दर असल इनका ग़ुस्सा भी प्यार-भरा होता है।

नौ-नौ घंटे की वक़्त-बेवक़्त ड्यूटी और वह भी ज़ुबान से बिला उफ़ किए—सचमुच ही क़ाबिले-तारीफ़ है। जी तो चाहता है, इनके क़दमों की खाक सर-आँखों से लगा लें। यह जज़्बा आप समझिए, इस नाचीज़ का ही नहीं, बल्कि हर उस शख्स का है, जिसे बिला किसी भेद-भाव के इनकी खिदमात से राहत और सकून हासिल होता है। काश ! हमें भी सिस्टर बनकर मरीज़ों के घाव धोने का मौक़ा मयस्सर होता।

काश ! खानाबदोश की काँपती-सी धीमी आवाज़ उन बहरे कानों तक पहुँच पाती, जिनकी नज़रे नापाक में समाज-सेवा महज़ लेक्चरबाज़ी, रस्मी उद्घाटन और वक्तव्यों तक ही महदूद है। काश, हमारे और दुनिया के हुक्मराँ यह सोच पाते कि मौत से ज़िंदगी देना अच्छा है। अधिकार से कर्तव्य और हुकूमत से खिदमत बड़ी चीज़ है। इस लिहाज़ से ये बहनें सचमुच ही पूजनीय हैं। इनका अपना दुख-दर्द, बेबसी और जीवन-संघर्ष भी एक ऐसी मौन पीड़ा है, जिसे ये खामोशी से बर्दाश्त करती हैं।

फ़ुरसत के लम्हों में बीमार और तीमारदारों की ऐसी हज़ारहा तस्वीरें हमारे दिमाग़ में घूम जाती हैं। दिल की धड़कनें तेज़ हो जाती हैं। बेखुदी के इस आलम में हमें याद रह जाती हैं, तो फ़क़त दो चीज़ें—वार्ड के गुस्लखाने की मदमस्त खुशबुएँ और दरवाज़े पर लगा हुआ संगमरमर का एक सफ़ेद टुकड़ा, जिस पर काले हरूफ़ों में खुदा हुआ है 'माननीय फ़लाँ के कर-कमलों से उद्घाटित।' हमारे फ़ैमिली डॉक्टर संगदिल का खयाल है कि दिल के साथ-साथ खानाबदोश का दिमाग़ भी दुरुस्त नहीं है।

हमने क़सम खाई है

मानें-न मानें, आपकी मर्ज़ी । हक़ीक़त यह है कि हमने क़सम खाई है । रँडुए रहने की नहीं, आवारागर्दी की नहीं, बल्कि इस बात की कि अब से न ख़ुद मरीज़े-इश्क़ बनेंगे, और न भूलकर किसी को दिल लगाने की राय देंगे । लाहौल, इसे आप दिल्लगी समझ रहे होंगे । सच पूछिए, तो अब दिल्लगी का रोना-धोना ही बाक़ी रह गया है, वरना ज़िंदगी के इस जुग में ग़मगीनी का क्या काम था । आसमान पर कमंदें फेंकते-फेंकते आजिज़ आ लिए । हसीनों से दिल भर गया, और नाज़ आए उन मनहूस सूरतों से । ख़ुदा ख़ैर करे, अब तो गुज़िश्ता के ख़याल से भी रूह काँपती है ।

मुमकिन है, हमारे नए फ़ैसले से कुछ दोस्तों को ताज्जुब हो, कुछ को बिला सबब नाराज़गी। शायद दो-चार दिल-जले हमें ज़लील करने पर भी आमादा हो जायँ। शहर-भर में बदनाम कर डालें। बिरादरी से हुक्का-पानी बंद करा दें। चाहें, तो रास्ता निकलना दूभर कर दें। मौक़ा मिले, तो बोटी-बोटी नोंच डालें। वालदैन को हमारे स्कैंडल की भनक लग जाय, तो दुल्हन बनाकर घर की चहारदीवारी में क़ैद कर दें। फिर भी हमें किसी से कोई गिला नहीं, कोई शिकवा-शिकायत नहीं। पिछले गुनाहों की सज़ा तो भुगतनी ही पड़ेगी। अब नहीं, तो अल्ला मियाँ के यहाँ पहुँचकर। अलबत्ता आगे के लिये हमने क़सम खा ली है।

हमने अहद किया है कि अब से न किसी को प्यार करेंगे, न मुहब्बत के तराने सुनकर पागल होंगे। न ख़ुद किसी के बनेंगे, न किसी को अपना बनाने की हिमाक़त करेंगे। मालिक ने चाहा, तो न दिली जज़्बात का क़लीसा सरसब्ज़ होने देंगे और न उसमें किसी मुस्करानेवाले बीनस को ही क़ैद करेंगे। परवरदिगार से दुआ करते हैं कि हमारी ज़िंदगी में अब से चाँदनी रातें न हुआ करें। हों भी, तो कम-अज़-कम ये चाँद-सितारे हमारी निगाहों से दूर-ही-दूर रहा करें। न हम किसी की माँग के सिंदूर बनें, न कोई हमारे होठों का बायसे-मुस्कराहट। इंशा अल्ला, अब रही-सही ज़िंदगी और हुस्नोजवानी के खँडहर किसी के सुर्मे-मिस्सी पर निसार करने की नौबत ही न आएगी, क्योंकि हमने क़सम खाई है।

क़ुदरतन् आप जानना चाहेंगे कि आख़िर क्यों हम यह फ़ैसला करने पर मजबूर हुए हैं ? आख़िर क्या ख़ब्त सवार हुआ, जो अभी से दुनियादारी से संन्यास ले रहे हैं ? सवाल निहायत ही

माक़ूल और दुरुस्त है। हम पर दर हक़ीक़त एक ख़ब्त सवार हुआ था। ऐसा संगीन ख़ब्त, जिसकी मिसाल मुहब्बत की तारीख़ में दूसरी नहीं। दिन में चिराग़ लेकर दुनिया का पर्दा टटोल डालिए, चाहे एक-एक हसीन चेहरे से जाकर दरयाफ़्त कर लीजिए। शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ, रोमियो-जूलिएट, हत्ता कि नल-दमयंती की दास्तान भी फीकी मालूम होगी, और आज के हीरो साहबान तो पानी भरते नज़र आएँगे। मुख़्तसर यह कि कॉलेज के दिनों में हमसे ज़िंदगी की सबसे बड़ी हिमाक़त हो गई। यानी कि हम एक ज़ुल्फ़ के असीर हो गए।

लामुहाला दसियों सवाल पैदा होते हैं। मसलन् ये कि आख़िर वह .ख़ुशनसीब था कौन, जिस पर हम इस क़दर फ़िदा हुए ? जिसका जादू हम पर इस क़दर कारगर हुआ कि उसी की बदौलत आज तक सिर और खोपड़ी धुनते हैं ? कहाँ है वह ज़ालिम, जिससे तंग आकर हमने ताज़ीस्त के लिये हलफ़ उठाई है ? और फिर वह साहबा हमारी इस हालत के लिये कहाँ तक ज़िम्मेवार हैं ? वग़ैरह-वग़ैरह।

किसी को बताइएगा नहीं मेहरबान। उनका क़यामगाह नवाब साहब के अहाते के ठीक पिछवाड़े था। मग़रिब में गोमती की मस्ती-भरी तरंगें। मशरिक़ में मसजिद की सरबलंद मीनारें, शुमाल में शहर-भर के गंदे नाले का सैलाब और जुनूब में था हमारे 'बेच-लर्स लाज' का पिछला दरवाज़ा। इसी में तशरीफ़ रखती थीं हमारी वह, जिनसे अब हमारा कोई सरोकार नहीं रहा, क्योंकि हमने क़सम खाई है।

सचमुच ही कितना .ख़ुशनसीब था गोमती का वह साहिल,

जहाँ वह अक्सर बोटिंग का मज़ा लिया करती थीं। कितनी .खुश-नसीब थी वह शीशेदार खिड़की, जो हर वक़्त खुली रहती थी, और जहाँ से वक़्त-बेवक़्त उनका निआज़ हासिल होता था। कितना सौभाग्यशाली था वह बाग़ीचा, जिसके हर फूल और काँटे से हुस्न और मुहब्बत टपके पड़ते थे। वह मदमस्त बाग़ीचा, जिसकी चहार-दीवारी फाँदकर भौंरों के दल मँडराने को बेचैन रहा करते थे।

हमें अब तक याद है वह सड़क और वह सायकिल भिड़ंतवाला चौराहा, जहाँ चहलक़दमी करते वक़्त उनसे पहली बार मुलाक़ात हुई थी। अगर बदक़िस्मत थे, तो ईजानिब, जिन्हें एक अर्से तक मस्ती काटने के बाद अब दाल-आटे का भाव मालूम हुआ है। इस 'देर आयद, दुरुस्त आयद' के मसले पर आप हमारी दिलजोई करें, न करें, आपकी मर्ज़ी, बहरहाल हम क़सम खा चुके हैं।

इन कुमारीजी का नाम था श्यामा, और शकल-सूरत, जहाँ तक याद है, थी चुड़ैलों-जैसी। छोटी-छोटी आँखों में काजल की महीन डोरियाँ कानों तक खिंची रहती थीं। दिन के किसी पहर या रात के किसी महूरत, धूप का चश्मा उतारना तो उन्होंने सीखा ही न था। नाक-नक़्शा ऐसा कि अल्लाह की पनाह। क्या मजाल है कि उनके तीरे-हदफ़ से कोई दिलवाला अपने को महफ़ूज़ रख सके। नाक की नोक ऐसी कि दिल में पैवस्त हो जाय। रुख़े-आबनूस पर शीतला माई के आटोग्राफ़ इस क़दर उभरे हुए कि आध पाव क्रीम और सवा पाव पाउडर भी उन्हें बमुश्किल तमाम छिपा पाए। होठों पर पुती लिपस्टिक और चेहरे पर झूलते हुए देशी ऊन-जैसे बाल और मेक-अप देखकर लगता था, जैसे शंकर का कोई कारटून हो। गुस्ताख़ रिक्शेवाले जब उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा

मटकते-इठलाते देख पाते, तो दबी ज़बान में कह जाते, "या परवर-दिगार, यह है तेरी .कुदरत। आठ आने की लुगाई और अस्सी रुपए की साड़ी।"

अगर भूल से भी किसी हमजोली की ज़बान से ये लफ़्ज़ निकल गए, तो शमा साहबा बेभाव की बरसतीं। और इससे पेश्तर कि उनकी अंगारे-जैसी लाल-लाल आँखों से एक भी आँसू निकल पाता, वह साड़ी के दामन से उन्हें इस तरह ढक लेतीं, गोया किसी बरसाती नाले की बाढ़ रोकने की कोशिश में मुब्तिला हों। तो जनाब, यह थीं हमारी क्लासबफैलो शमा साहबा। हुलिया की तफ़सील यह कि ऊँचाई चार फ़ीट सात इंच, कमर उन्नीस इंच, सीना बयालिस इंच और चेहरा-मोहरा छिपकली-जैसा। .खुदा की करामात मुला-हिज़ा हो, जनाबा को रँग दिया था कोयल का, आवाज़ कौओं-जैसी। यह सही है कि जले-दिल आग उगलते हैं, मगर नाक़िस तो महज़ एक हक़ीक़त अर्ज़ कर रहा है, क्योंकि उसने क़सम खाई है।

शुरू में तो शमा साहबा महज़ हमारी सहपाठिन थीं। कॉलेज की एक मुबारक हस्ती थीं। हर तालिबेइल्म की ज़ुबान पर उनका नाम था। शोहरत की यह हालत कि कॉलेज की चहारदीवारी के भीतर और बाहर वह वैसी ही छाई हुई थीं, जैसे किसी पुरानी कार के पीछे धूल और धुएँ का ग़ुबार होता है। बात काफ़ी पुरानी है, मगर है लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ सही। मौजूदा तालीम का निज़ाम किसी से छिपा नहीं। लौंडों ने एक अजीब तूफ़ाने-बदतमीज़ी उठा रक्खा था। शमा को रास्ता निकलना मुश्किल था। गोकि उनकी चाल में ऐटम बम की तेज़ी थी, मगर जिधर को निकल जातीं, घंटों क़हक़हे गूँजते रहते। जिसे देखो, वही एक-न-एक फ़ज़ीहत गढ़-गढ़कर सुना रहा है।

उनकी क़दमबोसी पर शहर के दर्जन-भर क़ब्रों को नाज़ था। उन्हीं की दम से तो ये रौनक़ अफ़रोज़ रहते थे। मुख़्तसर यह कि शमा साहबा महफ़िलों की रूह थीं। हूहू, हाहा करनेवाले हुक्जूम में उनकी नज़र उठते ही जैसे जान आ जाती। दुनिया जिन्हें बुज़ू-नफ़र समझती, ऐसे गधे भी उनका दीदार होते ही दिलेरी की मूरत बन जाते। कहाँ तक वह .ख़ुद इन्हें लिफ़्ट दिया करती थीं, झूठ क्यों बोलें, हमें इस बारे में कोई ऐसी जानकारी नहीं, जिसके बूते हम कोई दावा पेश कर सकें, क्योंकि हमने क़सम खाई है।

शमा यों किसी ख़ास लिबास की पाबंद न थीं। मौक़े-बेमौक़े साड़ी, सलवार, गरारा, सभी कुछ पहन लेती थीं। धूप का चश्मा चढ़ाकर निगाहें बचाने की लाख कोशिश करतीं, मगर अल्लाह के फ़ज़्लोकरम से उनकी पोशाक में ही ऐसी कशिश होती, जिसे देख-कर मुँह-पोपले, सिर-खोखले बुज़ुर्गों के दिल जुंबिश खा जायँ। मुराद यह कि वह भी अपने गुज़िश्ता की दुहाई देने पर मजबूर हो जायँ। काश कि कॉलेज की मैगज़ीन पर प्रिंसिपल की पाबंदियाँ न होतीं, तो बिला शक शमा का नाम 'हैडलाइंस' में आया होता। नित नए 'स्कैंडल' सुनने को मिलते, और यार लोग आधी रात से उठकर अख़बार का इंतज़ार करते।

शमा साहबा के बारे में बहुत पहले सुना हमने भी था कि वह बेहद रहमदिल हैं। उनके दरे-दौलत से कभी कोई दरवेश नामु-राद नहीं लौटा। यह बात अलग है कि बड़े लोगों की तरह वह भी ख़तों के जवाब देने की क़ायल न थीं। कुछ संपादक दोस्तों की तरह उन्होंने जवाब के लिये टिकट की शर्त भी न रक्खी थी। डाक का यह आलम कि शायद शहर में सबसे ज़्यादा उन्हीं के .ख़ुतूत होते थे।

हमने क़सम खाई है

डाक के अलावा दस्ती तौर पर कितनी चिट्ठियाँ आतीं, भला, इसका शुमार वह क्यों करने लगीं ? पर फिर भी नई पीढ़ी के मज-नुओं पर इस क़दर सनक सवार थी कि सिरफिरे एकतरफ़ा क़लमी दोस्ती करते-करते थकते नहीं थे। रंग-बिरंगे लिफ़ाफ़ों में इत्र की मदमस्त महक होती। कभी ताज़े खून के छींटे और कभी वह फड़कते हुए जुम्ले, वह चुनींदा अशार, जिनके एक-एक मिसरे पर हज़ारहा नोबुल प्रायज़ निछावर करने को तबियत मचल उठे।

मुख्तसर यह कि जहाँ वह जातीं, वहीं एक ऐसी ठंडी आग लगातीं, जिसे आँसुओं के सात समंदर भी न बुझा सकें। वह खुद भी सीने में चंद चिनगारियाँ दबाए आग और पानी से खेलती रहतीं। कॉलेज में कभी-कभी वह इस अंदाज़ से निगाहें बचातीं, जैसे कोई खूनी हो। हज़ारहा नौजवानों के खून से गोया मुदर्रिस साहबान की पनाह ढूँढ़तीं। मगर बंदापरवर, इस नाचीज़ ने भी .खुदा क़सम वह निगाह पाई है कि उड़ती चिड़िया के पर गिन लें। क़ातिल की शिनाख्त नाक़िस का पुश्तैनी पेशा रहा है। भला, आप ही बताइए, ज़िंदगी की यह लंबी मुद्दत क्या झख मारकर गुज़ारी है ?

यक़ीन जानिए, अब तक की रिसर्च से ईजानिब इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सोशल सर्विस के चक्कर में इस बुत ने एक दर्जन से ऊपर लड़कों को टी० बी० का शिकार बनाया। सात को .खुदकशी पर आमादा किया। सत्रह को छुरेबाज़ी का शौक़ लगाकर ढेर करा दिया। लाहौल कहिए, यह भी किसी मिनिस्टर की भांजी-भतीजी से कम नहीं थीं। भला मजाल थी, क़ानून के शिकंजे में कभी तो भूल से फँस जायँ। और, उस पर ग़ज़ब ढाया करते थे

हमारे अपने दोस्त-अहबाब, जो साहबज़ादी की पीठ सहला-सहला-कर उनका हौसला सरबलंद करते रहते थे।

सच पूछिए, तो क़ानून की रू से उनकी हर हरकत मुज-रिमाना थी। मुस्कराहट में सामाने-मौत, अदाओं में क़यामत और चश्मे की चमक से बुझे हुए तीर बरसाती फिरती थीं। चाल चलती थीं—जैसे बताशों पर चल रही हों। झूमती थीं—जैसे ज़ालिम ने शराब पी रक्खी हो। ख़ुदा जानें या हम जानें या फिर वे समझें, जिनकी आँखें इनकी चाल को देखकर फटी-की-फटी रह जाती थीं।

न-जाने किस महूरत में पैदा हुई थीं! हफ़्ते में कार के नौ ऐक्सीडेंट कराने का रिकार्ड क़ायम किया था। कितनी साइकिलों का कबाड़ा करा चुकीं, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं। उस साल ऐन ईद के रोज़ नवाबज़ादे बल्लन साहब ने इक्के की तीन सवारियों को अस्पताल पहुँचने पर मजबूर कर दिया। खोंचेवाले की दालमोट बिखेरकर सारा ट्रैफ़िक दस मिनट के लिये अपने इर्द-गिर्द जमा कर लिया। सारा मजमा खड़ा ख़ामोशी और हमदर्दी से पसीज रहा था, और शमा साहबा साइकिल का सहारा लिए दूर खड़ी मुस्करा रही थीं।

घूरतीं, तो लगता, जैसे बेहद मासूम हैं। मर्ज़ी के ख़िलाफ़ एक लफ़्ज़ भी कह दीजिए, तो काटने दौड़ पड़ें। रोटी, रोज़गार, मुक़द्दर और दुनिया के तमाम मसायल से दर असल ज़्यादा पेचीदा शमा भी मसमुच एक ही भूलभुलैया थीं। इनके जाल में पड़कर हमारे अलावा कभी कोई सही-सलामत नहीं लौटा। इनके मासूम गुनाहों की तह तक पहुँचना भी भला कोई मज़ाक़ था। भला बताइए, जब हम-जैसा तजुर्बेकार गच्चा खा गया,

तो बाक़ी चरकटों की क्या बिसात। इंतिहा थी—नाज़ुक-मिज़ाजी की। शहर का शायद ही कोई नौसिखिया डॉक्टर बचा हो, जिसे साहबज़ादी से फ़ीस मयस्सर हुई हो। सिनेमावालों से हलफ़ ले लीजिए, मिस साहबा ने कभी कोई पिक्चर मिस किया हो, और लुत्फ़ तो यह कि उन्हें अपने प्लास्टिक पर्स से कभी फूटी कौड़ी भी नहीं निकालनी पड़ी।

यक़ीन जानिए, अपनी चीथड़ा क़िस्मत पर पैबंद समझकर ही हमने शमा को सर-आँखों से लगाया था। यों निकाह पढ़ने को न कोई क़ाज़ी बुलाया गया, न किसी मजिस्ट्रेट की अदालत में अहदनामे पर दस्तख़त हुए। चंद दिनों की जान-पहचान में ही शमा साहबा को हमारी बेगम बनने का शौक़ चर्राया था। हम भी आप समझिए, आदम की औलाद तो थे ही, पड़ गए हौआ के भँवर-जाल में। अच्छे-ख़ासे इंसान के बजाय चौपाए बनने को तैयार हो गए। पिछली सालगों में दोस्तों को शादी का डिनर चुगाने बड़े ख़ुशनुमाँ दावतनामे भी भेज दिए।

मगर क़िस्मत को क्या करें। अभी न शादी का शोर-शराबा थमा था और न डिनर की तारीख़ आई थी कि शमा साहबा को हमसे भी ज़्यादा माक़ूल और मोटी मुर्ग़ी मिल गई। और हम ठूँठ-जैसे देखते रह गए। किसी तरह मिलनेवालों को सफ़ाई दे-देकर शोक के दिन पूरे कर रहे थे कि हमारे ख़्वाबों की मलकए-मुअज़्ज़मा एक नया स्वयंवर रचा बैठीं। फिर तो कुछ ऐसा सिल-सिला लगा कि उन्होंने हर हफ़्ते नए-नए घर बसाना और पुराने वीरान करना शुरू कर दिया। अब आपसे भी क्या छिपाएँ, हमें इससे तस्कीन हा हुआ, क्योंकि अब क़सम खाने को हम अकेले न

थे। हमारी तरह और भी कितने हो गए। सोसायटी में थोड़ी-बहुत तौहीन ज़रूर हुई, मगर धीरे-धीरे वह गुल-गपाड़ा भी थम गया।

एकाएक साल-भर की जुदाई के बाद, उस दिन कोढ़ी-अस्पताल के फाटक पर, शमा को नर्स की पोशाक में देखकर हम हक्के-बक्के रह गए। मौक़े की बात है, अपने राम भी सर और दाढ़ी के बाल बढ़ाए, तहमद लपेटे, एकदम बदले हुए नज़र आ रहे थे। मिज़ाजपुर्सी के बाद मालूम हुआ कि शमा ने सब कुछ छोड़कर बाक़ी ज़िंदगी मरीज़ों के घाव धोने और उन पर मरहम-पट्टी करने का क़तई फ़ैसला कर लिया है। उसे भी यह जानकर हैरत हुई कि हम इसी हफ़्ते हजशरीफ़ के लिये रवाना हो रहे हैं, क्योंकि हमने क़सम खाई है।

हम और हमारी गृह-लक्ष्मी

अपनी ज़िंदगी भी एक अजीब गोरखधंधा है। बल्कि यों कहिए कि वह बेवक़ूफ़ियों का एक अच्छा-ख़ासा इतिहास है, या यह समझिए कि वह चंद हिमाक़तों की एक दिलचस्प दास्तान है। वरना फिर यही मान लीजिए कि वह हमारे मासूम गुनाहों का एक सिलसिला है। भला, आपसे भी क्या छिपाएँ, ज़िंदगी-भर जिस माया के चक्कर से बचते रहे, आख़िर में, उसी में ऐसे फँसे कि किसी दीन के न रहे। सोचते हैं, जब दिवाली के इस महूरत में सारी दुनिया लक्ष्मी-पूजा कर रही है, तो हम भी अपनी गृह-लक्ष्मी का थोड़ा-बहुत गुणगान कर लें।

गोकि हमें कोई भकुआ मिस नहीं कहता था, मगर फिर भी कुँआरेपन का बिल्ला तो हम लटकाए फिरते ही थे। बिरादरी के पढ़े-लिखे सपूतों में अपना शुमार होता था, जब कि हक़ीक़त यह थी कि हाईस्कूल से ऊपर किसी दर्जे की चौखट भी न लाँघी थी।

बात असल यह है कि हमारी शादी के हज़ारहा आफ़र तो उसी वक़्त आ चुके थे, जब हम प्रायमरी स्कूल की फ़ायनल कक्षा में सर खपाया करते थे। अम्मी, बुआ और नानी, सभी बेक़रारी से उस घड़ी का इंतज़ार किया करती थीं, जब उनके खिलौने से खेलने कोई साढ़े चार हाथ की बहू बनकर आती। मगर अब्बाजान तो हमें भी पिछले जनम का फ़िक्स्ड डिपाज़िट मानकर कैश कराने के फ़िराक़ में थे।

इधर हैंजानिब स्वभाव से ही शादी-ब्याह के मुख़ालिफ़ थे। उस पर तुलसी बाबा की सीख लाख रुपए का काम कर गई। गाय-बजाय के काठ में पाँव देने की हिम्मत न होती। कभी लव-मैरिज का ख़याल भी आता, तो उसी मिनट कबीर का क़ौल हमारे हौसलों पर पानी फेर देता। सच पूछिए, तो 'अंधे होत भुजंग'वाले मसले ने हमारी आँखें खोल दीं। फिर जब एक दफ़ा ये ख़यालात खोपड़ी में घर कर गए, तो हम भी बरसों जिन्ना साहब की तरह ना-ही-ना करते रहे। लोगों ने लाख समझाया, भला, हम काहे को उनकी बकवास पर ध्यान देने लगे। बचपन के जमे ख़यालात आसानी से थोड़े ही बदल जाते हैं।

तो ख़ैर, घरवाले हार मानकर चुप हो गए। मगर उनसे ज़्यादा कन्या-पक्षवालों को हमारी फ़िकर सवार थी। बेटी के बाप, बीमा-एजेंट की तरह, पढ़ाई, लिखाई, रोज़गार गोया कि हर बात का

जिम्मा लेने को मुँह टैनाए फिरते थे। दूर के दोस्तों, मुदर्रिसों, मुलाक़ातियों, यहाँ तक कि सात पुश्त के रिश्तेदारों तक ने सिफ़ारिश का बाज़ार गरम कर रक्खा था। सच पूछिए, तो शादी के बाज़ार में हमारी क़दर भी किसी परमिट से कम न थी।

इस तरह घर-बाहर से आजिज़ आकर हम-जैसे सपूत को भी ज़बान खोलनी पड़ी। छोटी भाभी साहबा एक मर्तबा अपनी भतीजी के रिश्ते के सिलसिले में जब बहुत देर वकालत छाँट चुकीं, तो नाक़िस ने बाअदब, बामुलाहिज़ा, सरकारी वकील के लहजे में सवाल किया, "ज़रा यह तो बता दीजिए, सगाई-ब्याह मेरा होना है या आपका?"

"होना तो आप ही का है लालाजी।" अपने फ़ार्मूले पर जैसे शकर चढ़ाते हुए उन्होंने उत्तर दिया।

"फिर आपसे मतलब?" मैंने दूसरा सवाल किया।

"मतलब क्यों नहीं?" सवाल के जवाब में सवाल करती हुई बोलीं, "यही कि अब आप ईश्वर की दया से ....।"

उनकी बात जहाँ तक मुझे याद है, पूरी भी न हो पाई थी, मैंने कहा, "बड़े हो गए हैं, यही न?"

"नहीं लालाजी," बड़ी भाभी ने अमेरिकी ढंग से मीडिएशन किया, "इसका मतलब है........।"

"ओवरएज हो गए हैं, क्यों न भाभी?" मैंने बात पूरी कर दी।

बड़ी भाभी साहबा की जैसे पतंग कट गई। डोर-सी लपेटती हुई लगीं सफ़ाई देने, "भाभियों से रूठना-झगड़ना तुम्हें ख़ूब आता है। बेचारी का मतलब था, अब तुम समझदार हो गए हो।"

"तभी शायद उल्लू बनाने के फ़िराक़ में हैं, आपकी यह बेचारी ?" मैंने एक और तीर छोड़ा।

"कहने को चाहे जो कह लो लालाजी, भला तुम्हारा इसी में है कि," हिज्जे-से करती बोलीं, "दो रोटी का सहारा हो जायगा।"

"अभी कौन टोटा है, भाभीजी सलामत रहें।" मैंने मक्खन लगाया।

"आज की दुनिया में कोई भाई-भावज भला कब तक निभाते हैं ?" छोटी ने धीरे से कहा। और मुझे लगा, जैसे किसी ने आदर्शों के कल्पना महल से लाकर असलियत की चट्टान पर पटक दिया हो।

"तब होटल तो बंद नहीं है, और सभी भाई-भावज पत्थर-दिल भी नहीं। भाभीजी, अभी हिंदुस्तान ठेठ विलायत नहीं हुआ।" मेरे दिल से आह-सी निकल पड़ी।

कुछ देर खामोशी छाई रही। बड़ी भावज ने नया जाल बिछाया और लगीं सब्ज़ बाग़ दिखाने। "जानते हो, दहेज़ में क्या मिलेगा ?" दूसरी 'डोज़' बढ़ाती हुई बोलीं।

मैंने मासूमियत से भेजा हिला दिया।

"सैर-सपाटे को नई शैव, हज़ार बीघे धरती और दस हज़ार कैश।" बड़ी भाभी एक ही साँस में फ़ेहरिस्त-सी पढ़ गईं।

"पैर दबाने को बहुआ-सी बहू तो रह ही गई बीबीजी।" छोटी ने जैसे रही-सही कमी पूरी कर दी।

"बहुत-बहुत शुक्रिया। भाभी, अगर वाक़ई यह सब है, तो कहो, दूसरा कैंडीडेट तलाश कर दें ?" मैंने बेलौस होकर कहा, "जानती हो, यह सब कैसे जमा हुआ होगा। पर नहीं भाभी, अब

ज़ुबान न खुलवाओ। हम अपने दामन पर ही निगाह डाल देखें। सारी हक़ीक़त ख़ुद सामने आ जायगी।"

भाभी को जैसे हज़ार ततैयों ने डँस लिया। लगीं भाग्य, ईश्वर और करम-फ़िलासफ़ी झाड़ने।

उनका लेक्चर चल ही रहा था कि अम्मीजान दाख़िल हुई। मैंने सोचा कि इन कमांडर-इन-चीफ़ से लोहा लेना अपने बस की बात नहीं। मैं वहाँ से खिसकने की सोच ही रहा था कि अम्मीजान ने जवाब तलब किया, "क्यों रे, क्या बात है?"

"कुछ नहीं अम्मा।" मैंने उस सिटपिटाए मुलज़िम की तरह कहा, जिसके सर पर थानेदार सवार हो।

"कुछ तो?"

"कुछ हो, तो बताऊँ। भाभी से ही पूछ लो।" मैं गिड़-गिड़ाया। पर इतने से जान छुड़ाना मुश्किल था।

"तुम्हीं बताओ न?" भाभियों को उन्होंने हुकुम दिया और मैं लगा खिसकने।

"ठहर, कहाँ जाता है।" कहकर जैसे उन्होंने मेरे पैरों में बेड़ी डाल दी, और मैं अनमना-सा होकर भाभी का बयान सुनने लगा वही, वही बातें जिन्हें सुनते-सुनते मेरा सर चकरा उठा था। भाभी का वक्तव्य समाप्त होते ही अम्मीजान का पारा चढ़ गया। जहाँ तक मैं समझ सका, सारा नाटक था उन्हीं का रचा हुआ। मेन रोल अदा करती हुई बोलीं, "यह तो बता बुद्धू, ख़ानदान का नाम कैसे चलेगा?"

पर बुद्धू क्या बताए? कौन उसने ठेका ले रक्खा है। और फिर, यह भाभियों का काफ़ला किस मर्ज़ की दवा है। अगर यह

सब घर की हाईकमांड अम्मा के 'ट्रिब्यूनल' में कहना अपने क़ाबू से बाहर की बात थी। सर झुकाकर मैंने उनके प्रश्न को एक कान से सुना, दूसरे से निकाल दिया। वह भी जानती हैं, चिकना घड़ा है। भाभियों से दिन-भर झगड़ता है, और मेरे सामने इसकी बोलती बंद हो जाती है। कुछ रुककर अपनी बुज़ुर्गाना टोन में बोलीं, "बेटा, संतान के लिये शादी-ब्याह ज़रूरी है। इसके बिना मुक्ति नहीं होती ; पितरों का पिंडदान भी तो बच्चे ही करते हैं।"

"हाँ अम्मा, जो बुढ़ापे में दो रोटी न दे सके, ऐसे सपूत मरने पर पिंडदान ज़रूर करेंगे।"

अम्मा को निरुत्तर देख मैंने आजकल के नेताओं की तरह गांधीजी की दुहाई देते हुए कहा, "और अम्मा, देखो, तुम्हारे गांधी बाबा कहते थे, देश में अधिक संतान पैदा होना ग़ुलामों की तादाद बढ़ाना है, ग़रीबी बढ़ाना है।"

बस, न पूछिए, गांधीजी की उक्ति सुनकर कुनबे-भर की खीज महात्माजी के मत्थे आ पड़ी। उसी समय मरहूम अब्बाजान के एक दोस्त ने भैया को आवाज़ दी। यों मौजूदा पीढ़ी के लायक़ बेटों की तरह घर के काम-काज से अपनी भी रूह काँपती है। मगर उस वक़्त उस मेहमान को अल्लाह की देन समझकर ईजानिब दरवाज़े की तरफ़ खिसक गए। 'जान बची, लाखों पाए' का ख्याल करते हुए अपने राम एक-दो दिन अम्मी की निगाह से दूर-ही-दूर रहे।

कई बरस तो इस चकमेबाज़ी में कट गए, मगर एक दिन हमें हमारी ही करतूतों ने शादी पर मजबूर कर दिया। अम्मीजान पहले ही दुनिया को टाटा कह गई थीं। भैया-भावज ने लव-

मैरिज का नाम सुना, तो हमें भी टा टा कहकर रास्ता बता दिया। ले-देकर हुआ यह कि हमने दूसरा मकान ले लिया, और वहीं अड्डा जमाया। धीरे-धीरे गिरस्ती का साज़-सामान जुटाकर हमने भी घर बसा लिया—भैया-भावज, सबसे शानदार। नौकर-चाकर, सभी कुछ।

नई बीबी, नए शौक़ थे। ज़िंदगी का नया-नया जुग शुरू हुआ था। नए फ़ैशन का साज़ो सामान जुटाने को अब्बा इंतज़ाम कर ही गए थे। हम भी इस बेरहमी से ख़र्च करते रहे कि करदाता के पैसे को सरकार क्या करेगी। बीबी भी ऐसी कि अच्छे-अच्छे फ़ायनेंस मिनिस्टरों के कान काटे। लंबी-लंबी योजनाएँ, नित नई फ़रमाइशें और टीमटाम में वह खर्चे कि जल्दी ही डैफ़िसिट ने अल्टीमेटम दे दिया।

मगर हमारी अक़ल पर तो कुछ ऐसे पत्थर पड़ गए थे कि इसके अलावा कुछ सूझता ही न था। डैनों में थकान न थी। ख़यालात में तूफ़ानी तरंगें थीं। जज़्बात में बलबले और ज़िंदगी के हर शोबे में मस्ती नज़र आती थी। दुनिया-भर की आशा-आकांक्षाओं ने सिमटकर जैसे जोरू की शकल अख़्तियार कर ली थी। सड़क चलते बुज़ुर्ग और हमारी नौकरन आया जब हमारे तर्ज़ेअमल को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते, तो हम भी सोचते कि ये लोग रिएक्शनरी हैं। आउट ऑफ़ डेट हैं। दुनिया की रफ़्तार से क़दम मिलाना क्या जानें। ग़रज़ यह कि ये बुज़ुर्ग साहबान भी अपने दिन भूल चुके थे, और हम तो ख़ैर थे ही सर से पैर तक नशे में डूबे हुए।

शादी से पहले जो साहबा हमारे सपनों की रानी थीं, वही

अब हमारे दिल की दुनिया बसा चुकी थीं। क्या बताएँ, महफ़िल में जम जातीं, तो हूर नज़र आतीं। पास बैठी हसीन-से-हसीन छोक-रियाँ भी उनके मुक़ाबले लौंडी-बाँदी जान पड़तीं। हमने भी उनकी तारीफ़ के पुल बाँधते-बाँधते हद कर रक्खी थी। घड़ी-भर को निगाह से ओझल हो जातीं, तो यरक़ीनी-सी छा जाती। घंटों उन्हें फ़ाख्ता की तरह घूरते रहते। फिर भी निगाहों की प्यास न बुझती। क़द्रदानी की यह हालत कि फ़र्माबरदार मुलाज़िम की तरह उनकी हर फ़रमायश पूरी करते। इसके अलावा और कोई काम-धाम भी न था। ज़माने-भर के फ़िक्र-फ़ाक़ों से बेख़बर, बेख़ुदी में ज़िंदगी का हर लहमा गुज़र रहा था।

मगर कुछ ही दिनों बाद एक तमन्ना उन्हें सताने लगी। मजबूरी थी बंदापरवर। दौलत के बल-बूते अगर पूरी हो सकती, तो सात पुश्त की आबरू गिरवीं रखकर उसे पूरी करते। लाख-लाख शुक्र है ख़ुदा का, हमारी दुआ जल्द ही क़ुबूल हो गई, और नवें महीने घर के राशनकार्ड में आधे यूनिट का इज़ाफ़ा हो गया। हँसी-ख़ुशी का दूसरा साल लगने भी न पाया था कि बच्ची के साथ खेलने को नए मेहमान का बंदोबस्त हो गया। बीमे की क़िस्त की तरह फिर तो ऐसा सिलसिला जमा कि तीन, चार, पाँच, छ और समझिए कि दर्जन पूरा होने में कुछ ही कमी रह गई।

बैंकों ने जब चेक डिसआनर करना शुरू कर दिया, तब कहीं आँख खुली। नौकर-चाकरों को अलविदा कहा, और जनाब, बनने लगी बचत-योजना। यह सही है कि हमने उसके लिये कोई अफ़सर मुक़र्रर नहीं किए, मगर फिर भी यह ड्यूटी तो हम अंजाम दे ही रहे थे। पर सवाल बचत का नहीं था, आमदनी का था। काश कि

अपनी ज़िंदगी ज़मींदारियाँ बनी रहतीं! काश कि हम भी ऐवरेस्ट पर चढ़ पाते! काश कि हमें भी टैक्स लगाकर ऐश करने की आज़ादी मिली होती! बस, यही सोते-जागते सोचते रहते, मगर बेकार।

एक तरफ़ घर में बच्चों का महाभारत चलता, तो उधर बीबी की झिड़कियाँ घड़ी-भर को न रुकतीं। साले सुसरालवाले भी न-जाने किस काले पानी में थे कि बुलाने का नाम भी न लेते। महँगी के ज़माने में कौन हमारी बला अपने सिर ओढ़ता! मजबूर होकर साहूकारों के दरवाज़े खटखटाए। ज़मींदारी से मिलनेवाले मोटे मुआवज़े की उम्मीद दिलाई। मगर यह सिलसिला भी ज़्यादा दिन न टिक सका। घर लौटकर बीबी से ज़ेवरात का ज़िकर छेड़ा, तो क़हर मच गया। दो-चार दिन मौन-बरत और नानकोऑप-रेशन चला। हमें ही कौन ग़रज़ पड़ी थी, जो समझौते के लिये हाथ बढ़ाते। हड़तालियों के लिये सरकारी रवैए की नज़ीर सामने थी।

आख़िर में श्रीमतीजी ने मजबूर होकर अनशन तोड़ दिया। संतरे का शर्बत पीकर उनका दिमाग़ तर हो गया। नौकरी तलाश करने का सुझाव और बुंदे की जोड़ी ख़ुद ही आकर दे गईं। दो-चार रोज़ में नया मेहमान जो आनेवाला था। उसी की बदौलत हमारी मुसीबत भी वक़्ती तौर पर टल गई। वह हज़रत आ गए, जैसे बच्चों की पल्टन में नया रंगरूट। उनके भाई-बहन उछल-उछलकर पागल हो रहे थे। उन्हें क्या मालूम कि हमारे दिल पर क्या बीत रही थी। तब से बीबी साहबा ने सख़्त से सख़्त ताकीद कर दी। हमने भी उनका इसरार मंज़ूर कर लिया। यों तो पहले भी

जल्सों में जा-जाकर इस बारे में बहुत सुना था। संसद की मज़ेदार बहस पढ़ी थी। चौराहों पर फ़ैमिली प्लैनिंग के दसियों सायनबोर्ड भी देखे थे, मगर हर बार हमारी क़सम टूटी। अब आगे के लिये अल्लाह की मर्ज़ी।

तो ख़ैर, शुरू में छोटी-मोटी नौकरी की बात सोचते हुए भी दम निकलता था। बड़े-बड़े ग्रेजुएट आलिम जहाँ रिक्शा खींचते हैं, वहाँ हमारे लिये ही कौन लाटसाहबी खाली थी। ख़ुदा का शुक्र है, हमें एक कांग्रेसी दोस्त की सिफ़ारिश से कंट्रोल-महकमे में मुंशी-गीरी मयस्सर हो गई। ख़ुदा करे, वह कहीं के लेखपाल, नहीं-नहीं, राजपाल हो जायँ, वरना अकाल-मिनिस्टर ही हो जायँ, ग़ुरबा की न सही, दोस्तों की ही परवरिश करेंगे। तो जनाब, हमें नौकरी मयस्सर हो गई। कई दिन क्यू बनाया, बेरोज़गारों के दफ़्तर से कार्ड बनवाया, और काम आई, तो नेताजी की 'तसदीक़ और सिफ़ारिश'।

मगर साहब, महँगी के ज़माने में चालीस रुपल्ली से होता क्या है, ख़ुसूसन् जहाँ दर्जन-भर बच्चे हों। हमारे यहाँ भी यही फ़ज़ीहत थी। महीने के पहले हफ़्ते में ही सारी तनख़्वाह यश की धूप की तरह स्वाहा हो जाती। फ़रमायशें तो छोड़िए, ज़रूरतें भी न पूरी होतीं। आज कल्लू को बुख़ार है, तो कल मुन्ना की किताब चोरी चली गई। चुन्नी का ब्याह भी जाड़ों में हो जाना चाहिए। जाड़े दूर हैं। इस वक़्त तो बीवी के लिये धोती का सवाल है। अपने लिये जूता अगले महीने ले लेंगे।

और फिर, दिवाली का त्योहार। मेम साहबा के दिन से रट लगाए हैं, खीलें, खिलौने और बताशों की। हम भी समझते हैं, बच्चों का घर है और दिवाली पूरे साल-भर बाद आती है। मगर करें, तो क्या

करें ? चौदह की डबीं लगा दें तो वह चौदह भी गारत हो जायँ। दिन जो उल्टे हैं। यार-दोस्त घर की लीप-पोत के लिये जान खाए हैं। अब वह मालिक मकान नहीं सुनता, तो क्या धरमशाला में जा टिकें ? एक फ़ज़ीहत हो, तो रोवें। अच्छी दिवाली हुई, सबको रोशनी और रंगत सूझ रही है, और यहाँ दिवाला निकाले बैठे हैं। कभी तेल नहीं, तो कभी लकड़ी की हाय-हाय। हफ़्ते-दो हफ़्ते की बात हो, तो चलिए, भुगत लें, पर यह तो बारहमासी है। उधारवाले उधर जान खाए हैं, इधर इन गृह-लक्ष्मीजी ने जान मार रक्खी है। औलाद भी ऐसी मिली है कि ईश्वर दुश्मन को भी न दे। कंबख्त अपनी चीज़ खो आएँगे, औरों को खिला आएँगे। इकन्नी का कद्दू मँगाओ, तो पंद्रह आने सब्ज़ीवाले के पास ही छोड़ आएँगे। अजीब मुसीबत है ! या परवरदिगार, अगर यही गृह-लक्ष्मी हैं, तो हम बाज़ आए।

फिर भी न-जाने क्यों कुछ लोग हमारे सहकर्म से ही खार खाए बैठे हैं। लड़ाई है मिनिस्टर से, जान मुसीबत में कर रक्खी है हम मेहनतकशों की। यार लोग रिश्वत का हंगामा उठाए हुए हैं। अजीब मज़ाक़ है, यहाँ छटनी की छुरी चल रही है, और भाई लोगों को हरा-हरा दीख रहा है। भला बताइए, कोई कंबख्त मुंशी मुहर्रिरों से बात भी करता है। माल मारते हैं अफ़सर और उनके दलाल नेता, बदनाम होते हैं टुटपुँजिए बाबू लोग और हम मुहर्रिरान। किसी भले मानस ने ईद-बकरीद होली-दिवाली चवन्नी, अठन्नी, टिका दी, तो उससे कौन गिरस्ती का पेट भरता है।

दो वक़्त चैन की रोटी नसीब हो जाय, तो लानत समझें इस ज़लील नौकरी को, कहाँ की बख्शीश और कहाँ की रिश्वत। पर चैन की रोटी छोटे आदमी के लिये कहाँ ? उसके लिये तो उपदेश

हैं, लेक्चर हैं, इन्हीं को खाए-पिए, ओढ़े-बिछाए और बीबी-बच्चों को दे दे संखिया। माफ़ कीजिए मुआ क़ानून इसकी भी इजाज़त नहीं देता। भला बताइए, ऐसी भी आज़ादी क्या ? गांधी होता, तो यह हाय-तोबा न होता। बेईमानों की अक़्ल ठिकाने लगा देता। वही बात हम कहें, तो निकाल बाहर किए जायँ, गोया कि हम आदमी नहीं, हैवान हैं।

जिस घर में देखो, वहीं नोन, तेल, लकड़ी की चैं-चैं पैं-पैं और उस पर यह औलाद ! चले आ रहे हैं सिलसिलेवार। कहाँ हैं इनके अल्लामियाँ ! मुँह तो फाड़ दिया बिसे-भर का ! पेट की फ़ौलादी भट्ठी भी बना दी, पर यह न सोचा कि खाएँगे क्या ?

हम तो भाई, आजिज़ आ लिए, बीबी भी तुनक गई हैं। अलग कमरे में चारपाई डालकर जैसे पाकिस्तान बना डाला हो। हमारी और उनकी हिंद-पाक जैसी रूठाराठी में इन फूलों-से बच्चों का अल्ला ही मालिक है।

दुआ करते हैं, मालिक इन्हें सलामत रक्खें। भला, आप ही बता दीजिए, दिवाली कैसे मनाएँ और आगे के लिये क्या करें, क्या न करें ? बच्चे समझदार निकले, तो अपने तजुरबों से फ़ायदा उठाएँगे, वरना ये भी हमारी ही तरह ख़ैरीज डालेंगे—अधन्नी, दुअन्नी, धेले और इकन्नियाँ।